# ❋ अनुक्रमणिका ❋

भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाणमहोत्सव के अवसर पर प्रकाशित

अभय जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ३२

खरतर गच्छाचार्य श्रीकीर्तिरत्नसूरि

विरचितं

# नेमिनाथ महाकाव्यम्

प्रकाशितचरं संस्करणद्वयमतिप्राचीनं हस्तलेखं च पर्यालोच्य प्रथमतया पाठान्तर
भूमिका-हिन्दीरूपान्तर-पद्यानुक्रमणिकादिसध्रीचीनं प्रयत्नेन सम्पादितम्

सम्पादक :

डा० सत्यव्रत, एम. ए. पी-एच. डी.
संस्कृत विभाग,
गवर्नमेण्ट कॉलेज,
श्रीगंगानगर (राज०)

विद्यावारिधि, सिद्धान्ताचार्य,

साहित्यवाचस्पति आदि

उपाधि-विभूषित

जैन साहित्य

के

प्रकाण्ड विद्वान्

श्रीयुत अगरचन्द नाहटा को

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।

## आचार्य श्रीकीर्त्तिरत्नसूरि मूर्त्ति (नाकोड़ा तीर्थ)

**उत्कीर्ण लेख**

ॐ स० १५३६ वर्षे श्रीकीर्त्तिरत्नसूरि गुरुभ्यो नम सा० जेठा पुत्री रोहिनी प्रणमति

(जन्म स० १४४९ चैत सुदि ८ शुक्र, दीक्षा स० १४६३ आषाढ़ बदी ११,

वाचनाचार्य पद स० १४७०, उपाध्याय पद स० १४८० वै० शु०१०,

आचार्य पद स० १४९७ माघ शु० १० जेसलमेर,

स्वर्गवास स० १५२५ वै० ब०५ वीरमपुर)

(नाकोडा पार्श्वनाथतीर्थ कमेटी के सौजन्य से)

# प्रकाशकीय

लगभग ४७ वर्ष पूर्व परमपूज्य जैनाचार्य श्री जिनकृपाचन्द्रसूरिजी के सदुपदेश से पूज्य पिता श्री शंकरदानजी ने हमारे ज्येष्ठ भ्राता श्री अभयराज जी नाहटा की पुण्यस्मृति में अभय जैन ग्रन्थमाला का प्रवर्तन किया था, जिसके अन्तर्गत प्रकाशित इकतीस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ धर्म व इतिहास प्रेमियों के समक्ष रखे जा चुके हैं। किन्तु जनता के सहयोग एवं प्रचार के अभाव में साहित्योद्धार का यह गौरवपूर्ण कार्य आशानुरूप गतिशील नहीं हो सका।

अभी भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाणोत्सव-वर्ष के शुभ अवसर पर सुविख्यात खरतरगच्छीय विद्वान एवं शासन-प्रभावक कीर्तिरत्नसूरि-कृत नेमिनाथ महाकाव्य को उक्त ग्रन्थमाला के ३२ वें पुष्प के रूप में प्रकाशित करते अपार हर्ष हो रहा है। इसका सम्पादन जैन संस्कृत महाकाव्यों के मर्मज्ञ डॉ० सत्यव्रत ने किया। आपने जैन संस्कृत महाकाव्यों को अपने विशेषाध्ययन का विषय बनाया और इसी पर शोध करके डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है। अतः आपके द्वारा सुसम्पादित इस काव्य का निजी महत्त्व है। काव्य का हिन्दी अनुवाद, समीक्षात्मक विश्लेषण, सुभाषित-नीवी एवं पद्यानुक्रमणिका देने से ग्रन्थ की उपयोगिता और बढ़ गयी है। आशा है, यह ग्रन्थ विद्वज्जनों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशन में मुनिराज श्री जयानन्दमुनि जी के सदुपदेश से श्री महावीर स्वामी मन्दिर पायधुनी, श्री चिन्तामणिजी का मन्दिर बम्बई, खरतरगच्छ संघ भुज, मांडवी और जामनगर से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है एतदर्थ हम पूज्य मुनि श्री और उक्त संस्थाओं के ट्रस्टियों के विशेष आभारी हैं। इस ग्रन्थ के विक्रय से जो धनराशि प्राप्त होगी, उसे अन्य ग्रन्थों के प्रकाशन में व्यय किया जाने की योजना है।

पूज्य श्री देवचन्द्र-रचित अध्यात्म प्रबोध, देशनासार एवं द्रव्य प्रकाश मुद्रणाधीन हैं। श्रीजिनप्रभसूरिचरित्र तो शीघ्र ही प्रकाशित हो चुका है। योगिराज श्री चिदानन्दजी के पदों का हिन्दी विवेचन एवं बाल ग्रन्थावली ( जैन कथा संग्रह ) मुद्रणार्थ भेजी जा चुकी हैं । कतिपय अन्य ग्रन्थ भी तैयार हैं जो सुविधानुसार प्रकाशित होंगे ।

अभय जैन ग्रन्थालय की तरह अग्रज अभयराज जी की स्मृति में अभयजैन ग्रन्थालय भी बीकानेर में स्थापित किया गया था जो आदिनाथ जैन मन्दिर बीकानेर के सम्मुख स्वतन्त्र भवन में स्थित है ? इसमें हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थों का अद्वितीय महान् संग्रह है। इसी प्रकार पूज्य पिताजी की पवित्र स्मृति में 'शंकरदान नाहटा कला भवन' 'अभय जैन ग्रन्थालय के ऊपरी भाग में स्थापित किया गया है, जिसमें प्राचीन कलात्मक विशिष्ट सामग्री प्रयत्न पूर्वक संगृहीत की गयी है । ये दोनों संस्थायें कला, पुरातत्त्व, इतिहास एवं साहित्य के शोधार्थियों तथा प्रेमियों के लिए वरदान स्वरूप हैं ।

—अगरचन्द नाहटा

# आमुख

रूप तथा परिमाण में विपुल होता हुआ भी जैन विद्वानों द्वारा रचित संस्कृत-साहित्य, अधिकांश में, उपेक्षित है। जहाँ जैनेतर अध्येताओं ने इसे साम्प्रदायिक अथवा प्रचारवादी कह कर इसका अवमूल्यन करने की चेष्टा की है, वहाँ जैन विद्वानों का उत्साह दार्शनिक तथा धार्मिक साहित्य पर ही अधिक केन्द्रित रहा है। ललित साहित्य की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति नहीं, यद्यपि जैन लेखकों ने काव्य, नाटक, चम्पू, महाकाव्य, स्तोत्र आदि सभी विधाओं पर मूल्यवान् ग्रन्थों की रचना करके साहित्यिक निधि को समृद्ध बनाया है। इस वैविध्य एवं व्यापकता के कारण संस्कृत-साहित्य के क्रमबद्ध इतिहास के ज्ञान, विकासमान प्रवृत्तियों के क्रमिक अध्ययन और तथाकथित सुप्त युगों की साहित्यिक गतिविधि से परिचित होने के लिए जैन संस्कृत-साहित्य की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। फिर भी अधिकतर आलोचकों ने जैन ललित साहित्य को अपने अनुसन्धान का विषय नहीं बनाया, यह आश्चर्य की बात है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों के योगदान का मूल्यांकन करने का भगीरथ प्रयत्न किया है[1]। किन्तु पन्द्रह-सोलह शताब्दियों की विराट् काव्यराशि के सभी पक्षों के साथ एक ग्रन्थ के सीमित कलेवर में न्याय कर पाना सम्भव नहीं है। इसीलिये विषय-वस्तु की विशालता के कारण यह ग्रन्थ आलोच्य काल के काव्य का सम्पूर्ण मानचित्र प्रस्तुत करने की बजाय उसकी रूप-रेखा मात्र बन कर रह गया है। अज्ञात अथवा अप्रकाशित जैन साहित्य का सर्वांगीण विमर्श स्वतन्त्र ग्रन्थों के द्वारा ही किया जा सकता है। सौभाग्यवश कुछ सुधी विद्वान् इस दृष्टि से जैन संस्कृत-साहित्य के अध्ययन में प्रवृत्त हुए हैं। जैन संस्कृत नाटकों का अध्ययन मगध विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि का पात्र बना है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत-महाकाव्यों पर रचित डॉ० श्यामशंकर दीक्षित के शोध प्रबन्ध का प्रथम भाग प्रकाशित

---

१. डा० नेमिचन्द्र शास्त्री: संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन् १९७१

हो चुका है[२]। पन्द्रहवीं, सोलहवीं तथा सतरहवीं ईस्वी शताब्दियों के जैन संस्कृत महाकाव्यों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत लेखक ने अपनी शोध-कृति में प्रस्तुत किया है, जिसे राजस्थान विश्वविद्यालय ने पी-एच. डी. उपाधि से सम्मानित किया है। इसी प्रकार कतिपय अन्य ग्रन्थों की भी रचना हुई है।

पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रख्यात खरतरगच्छीय आचार्य कीर्त्तिराज उपाध्याय(बाद में कीर्त्तिरत्नसूरि नाम से ख्यात)का नेमिनाथमहाकाव्य अपने काव्यात्मक गुणों,शैलीकी प्रासादिकता,काव्य-रूढियों के विनियोग तथा तत्कालीन प्रवृत्तियो के समावेश आदि के कारण जैन-साहित्य की महत्त्वपूर्ण रचना है। अतीत में यह काव्य दो बार प्रकाशित हुआ है, किन्तु अब लगभग अप्राप्त है। हर्षविजय की सरलार्थ प्रकाशिका टीका के साथ नेमिनाथमहाकाव्य विजयधनचन्द्रसूरि-ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशित हुआ था। हर्षविजय की टीका काव्य के चित्रकाव्यात्मक अंश को समझने के लिए निस्सन्देह उपयोगी है। परन्तु टीकाकार समीक्षात्मक बुद्धि से वंचित है। उसने काव्य के उपलब्ध पाठ को यथावत् स्वीकार किया है तथा भ्रामक अंशों की हास्यास्पद व्याख्या की है। प्रस्तुत ग्रन्थ में बहुधा विजयधनचन्द्रसूरि-ग्रन्थमाला में प्रकाशित पाठ को ही आधार बनाया गया है, किन्तु पाठ-शोधन के उद्देश्य से इसका मिलान काव्य की प्राचीनतम हस्तप्रति (सम्वत् १४९५) से यशोविजय जैन ग्रन्थमाला (३८) में प्रकाशित संस्करण तथा कवि के जीवन-काल, सम्वत् १५०२ में लिखित महिमाभक्ति ज्ञान-भण्डार, बीकानेर की प्रति से किया है,[३], जिसके फलस्वरूप अनेक रोचक

---

२. डॉ० श्यामशंकर दीक्षित: तेरहवी-चौदहवीं शताब्दी के जैन-संस्कृत-महाकाव्य, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर, सन् १९६९

३. सम्वत् १५०२ वर्षे श्रीबृहत्खरतरगच्छे श्रीमालवदेशे श्रीमण्डपदुर्गे श्रीमालज्ञातौ वैद्यगोत्रीय सं० रूपाभार्या सूया तत्पुत्रेण सं. गजपति-सुश्रावकेण बांधवपारससहितेन श्रीनेमिजिनेन्द्रचरित वा० लावण्य-शीलगणिनिदेशेन हरशेखरगणिपठनाय स्वश्रेयोर्थं लेखितम्।

लिपिकार की अन्त्य टिप्पणी

पाठ प्रकाश में आये हैं। बीकानेर-प्रति का पाठ निसन्देह अधिक प्रामाणिक तथा मान्य है। जिन पाठों को लेकर हर्षविजय ने व्यर्थ खींचतान की है और काव्यार्थ के प्रकाशन के स्थान पर उसका संगोपन किया है, उन स्थलों पर महिमाभक्ति ज्ञान-भण्डार की हस्तप्रति शुद्ध पाठ प्रस्तुत करती है। काव्य के प्रासंगिक पद्यों से विदित होगा कि 'तुषारभूषांशुकभूषितांगः' की अपेक्षा 'तुषारवोक्षांशुकभूषितांगः' (३।८), 'स्वयूथनाथैरिव' के स्थान पर 'स्वयूथनागैरिव' (३/६), 'स्वस्थाम्भसीव' की बजाय 'स्वच्छाम्भसीव' (४/४०), 'ननु वत्सला' की अपेक्षा 'सुत वत्सला' (६/३८), 'ललनदोलनयोर्ग्रहजं' की तुलना में 'ललनदोलनदोर्ग्रहजं' (८/२८), 'विनयभक्तिमानदः' के स्थान पर 'विनयभक्तिवामनः' (१२/२४), 'यशांसि विचरन्ति' की अपेक्षा 'यशांसि विसरन्ति' (१२/४५) पाठ अधिक सठीक, सार्थक तथा प्रसंग-सम्मत है। तुलनात्मक दृष्टि से हमने जिस पाठ को स्वीकार किया है, उसे काव्य के कलेवर में रखा है, पाठान्तर का उल्लेख, उसके स्रोत के निर्देश-सहित, पाद-टिप्पणी में किया है। उक्त आधारभूत स्रोतों में पूर्ण साम्य होने पर भी हमने कतिपय अन्य चिन्त्य पाठों का सशोधन करने का साहस किया है। संशोधित पाठ कितने सार्थक हैं, इसका निर्णय विद्वान् पाठक करें। किन्तु वे प्रसंग में मूल पाठ की अपेक्षा अधिक उपयुक्त तथा अर्थवान् है, इसमें सन्देह नहीं।

इस प्रकार नेमिनाथमहाकाव्य का समीक्षित पाठ यहाँ प्रथम बार प्रस्तुत किया गया है। फलतः वर्तमान संस्करण का पाठ पूर्ववर्ती संस्करणों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है। असंस्कृतज्ञ पाठक भी काव्य का रसास्वादन कर सकें, इसलिये इसका हिन्दी में अविकल अनुवाद किया है। अनुवाद दुस्साध्य कार्य है। मूल भाव को, उसके समूचे सौन्दर्य के साथ, अनुवाद में उतारना कठिन है। संस्कृत-काव्य की भाव-सम्पदा को हिन्दी में व्यक्त करते समय यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है, क्योंकि दोनों भाषाओं की मूल प्रकृति भिन्न है। हमने मूल के निकट रह कर उसके काव्य-सौन्दर्य को रूपान्तरित करने का यथाशक्य प्रयत्न किया है। फिर भी श्लेषों तथा विरोधाभासों की आत्मा अनुवाद में पूर्णतया बिम्बित हो गयी है, यह दावा करना साहसपूर्ण

होगा। किन्तु यदि अनुवाद से उपाध्याय कीर्त्तिराज की कविता को कविता को समझने में तनिक भी सहायता मिली तो हमारा श्रम सार्थक होगा। भावों के विशदीकरण के लिए ही यत्र-तत्र हर्षविजय की टीका के उद्धरण दिए हैं। आरम्भ में, एक निबन्ध में काव्य की गरिमा के मूल्यांकन तथा सौन्दर्य के प्रकाशन के उद्देश्य से इसका समीक्षात्मक विश्लेषण किया है। आशा है इससे काव्य रसिकों तथा समीक्षकों को तोष होगा।

मुझे जैन साहित्य में प्रवृत्त करने का सारा श्रेय शोधाचार्य श्री अगर चन्द नाहटा को है। उन्होंने 'कीर्त्तिरत्नसूरि और उनकी रचनायें' निबन्ध लिखकर काव्य को गौरवान्वित किया है। इसके प्रकाशन की व्यवस्था भी उन्होंने ही की है। महिमाभक्ति ज्ञानभंडार की पूर्वोक्त प्रति भी मुझे नाहटा जी के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इन सब उपकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हुआ मैं यह ग्रंथ उन्हीं को समर्पित करता हूं।

फ़रवरी १९७५ — सत्यव्रत

## संकेत-सूची

महि० = महिमाभक्ति ज्ञानभंडार, बीकानेर की प्रति सं० १५०२ लि०

वि० मा० = विजयधनचंद्र सूरि जैन ग्रंथमाला में प्रकाशित काव्य का सटीक पत्राकारसंस्करण

यशो० मा० = यशोविजय जैन ग्रंथमाला में प्रकाशित काव्य का संस्करण

टीका = काव्य की हर्षविजयकृत टीका

# आचार्यरत्न कीर्तिरत्नसूरि और उनकी रचनाऐं

(ले०—अगरचन्द नाहटा)

आचार्य कीर्तिरत्नसूरि महान विद्वान और त्यागी वैरागी सन्त पुरुष थे। वे पञ्च-परमेष्ठि में गौरवशाली तृतीय आचार्यपद धारक शान्तमूर्ति प्रभावशाली महापुरुष और खरतर-गच्छ रूपी गगनाङ्गण के ज्वाज्वल्यमान नक्षत्र थे। आप शिष्य-वर्ग को अध्ययन कराने में सिद्ध हस्त उपाध्याय, गच्छ भेद वितण्डा से दूर और गच्छनायक को गच्छ, धुरा, धारण में एक कुशल सहयोगी थे। आपका प्रस्तुत नेमिनाथ महाकाव्य सृजन सौष्ठव और प्रासाद युक्त एक सफल प्रेरणास्पद ग्रन्थ है जिसके साथ आपका परिचय यहाँ देना आवश्यक है।

वंश परिचय—ओसवाल ज्ञाति में कोचर साह बड़े नामांकित पुरुष हुए हैं। वे संखवाली नगरी के अधिवासी थे अतः आपके वंशज संखवाल, सँखवालेचा या सँखलेचा गोत्र नाम सेप्रसिद्ध हुए। कोचर साह ने वहाँ ऋषभदेव भगवान का मन्दिर बनवाया,अनेक तीर्थों के संघ निकाले थे जिनका वर्णन कोचर व्यवहारी रास' तथा अन्यत्र भी कई वंशावलियों आदि में मिलता हैं। कोचर शाह की लघु भार्या के पुत्र सा० रोला और मूला थे। उनके पुत्र सा० आपमल्ल और देपमल्ल हुए। देपमल की भार्या का नाम देवलदेवी था। उनके और १ लाखा२मादा ३ केल्हा और४देल्हा चार पुत्र थे। यह वंश बड़ा समृद्धि-शाली था। इन्हें सात पीढ़ी तक लक्ष्मी स्थिर रहने का वरदान था। चतुर्थ पुत्र देल्हा ही हमारे चरित्रनायक थे। इनका जन्म संवत् १४४९ चैत्र सुदि ८ शुक्रवार के दिन वीरमपुर-महेवा में हुआ। आप बड़े रूपवान और विचक्षण बुद्धि वाले थे अतः अल्पकाल में ही अच्छा विद्याध्ययन कर लिया था। माता-पिता ने इनकी सगाई १३ वर्ष की अवस्था में ही राड़द्रह में की थी। विवाह के लिए बरात सजाकर आये और गाँव के बाहर ठहरे। मध्यान्ह में जब सभी

खेल-क्रीड़ा कर रहे थे तो एक राजपूत ठाकुर ने कहा जो इस खेजड़ी को बरछी सहित झुकावेगा उसे मैं अपनी पुत्री दूंगा। देल्हकुमार के साथ अपना प्राणप्रिय खवास राजपूत नौकर था जिसे सकेत दिया तो उसने इस कार्य का बीड़ा उठाया। उसने राजपूत की चुनौती स्वीकार कर कार्य कर दिखाया पर बरछी से आहत होकर वह तत्काल मर गया। देल्हकुमार इस करुण मृत्यु को देखकर एक दम विरक्त हो गया। उस समय वहाँ क्षेमकीर्ति उपाध्याय श्री जिनवर्द्धनसूरिजी के साथ स्थित थे, उनके उपदेश से वैराग्य-रंग संयम-मार्ग की ओर भी दृढ़ हो गया और समस्त कुटुम्बी जनों को समझा बुझा कर महोत्सव पूर्वक सं० १४६३ मिती आषाढ़ बदि ११के दिन श्री जिनवर्द्धनसूरिजी के कर-कमलों से दीक्षा ली। गुरु-महाराज बड़े प्रभावक और विद्वान आचार्य थे। आप उनके पास जैनागम एवं व्याकरण, काव्य, छन्द, न्याय आदि सभी विषयों का अध्ययन करके विद्वान-गीतार्थ बने। आपका दीक्षा नाम कीर्तिराज रखा गया था। सं० १४७० मे पाटण नगर में श्री जिनवर्द्धनसूरिजी ने आपको वाचक पद से अलकृत किया। आपने गुजरात, राजस्थान उत्तर प्रदेश और पूर्व के समस्त तीर्थों की यात्रा की। राजस्थान मे तो आपका विचरण सविशेप हुआ।

आप कितने ही वर्षों तक श्रीजिनवर्द्धनसूरिजी की आज्ञा में उनके साथ विचरे। बाद मे कहा जाता है कि जैसलमेर मे प्रभु मूर्ति के पास से अधिष्ठायक प्रतिमा को हटाकर बाहर विराजमान करने से देवी प्रकोप हुआ और श्रीजिनवर्द्धनसूरि के प्रति लोगों की श्रद्धा मे भेद हो गया। इस मत-भेद में नवीन आचार्य स्थापन करना अनिवार्य हो गया और श्रीजिनभद्रसूरि जी को आचार्य पद देकर श्रीजिनराज सूरि के पद पर विराजमान किया गया। श्रीजिनवर्द्धनसूरिजी की शाखा पिप्पलक-शाखा कहलाने लगी। इस गच्छ-भेद में श्री कीर्तिरत्नसूरिजी किस पक्ष में रहें, यह एक समस्या उपस्थित हो गई। अन्त में जिस पक्ष का भावी उदय दिखाई दे, उधर ही रहना निश्चय किया गया, और आपने अपने ध्यान बल से श्री जिनभद्रसूरिजी का उदय ज्ञात कर उनके आमन्त्रण से उन्हींकी आज्ञा में रहना स्वीकार किया, क्योंकि

देवता ने आपको श्रीजिनवर्द्धन सूरिजी की आयु ११ वर्ष ही शेष होने का संकेत कर दिया था। आप चार चातुर्मास महेवा में करने के पश्चात् श्री जिन भद्रसूरि के पास गए और सं० १४८० में वैशाख सुदि १० के दिन सूरिजी ने कीर्तिराज गणि को उपाध्याय पद से विभूषित किया।

उपाध्याय पदासीन होकर आपने बड़ी भारी शासन सेवा की। नेमिनाथ महाकाव्य भी इसी अरसे में निर्माण किया था और भी कई रचनाएं की होंगी, जिनमें कतिपय स्तवन आदि कृतियाँ उपलब्ध हैं। उनके वरद हस्त से अनेक सङ्घपति बने, सङ्घ निकाले। अनेक भव्य जीवों को धर्म का प्रतिबोध दिया और नये श्रावक बनाये। उनके भ्राता शाह लक्खा और केल्हा ने महेवा से जैसलमेर आकर गच्छनायक श्रीजिनभद्रसूरि जी को आमन्त्रित कर बडे भारी महोत्सव करने में प्रचुर द्रव्य व्यय किया। सूरिजी के कर-कमलों से कीर्तिराजोपाध्याय को आचार्य-पदारूढ करवाया। इनका"श्री कीर्तिरत्नसूरि नाम रखा गया। इन भ्राताओं ने सं० १५१४ में शंखेश्वर,गिरनार, गौड़ी पार्श्वनाथ, आबू और शत्रुञ्जयादि तीर्थों की यात्रा आचार्यश्री के साथ की एवं सारे संघ में सर्वत्र लाहण की एवं आचार्यश्री का चातुर्मास बड़े ठाठ से कराया।

श्री कीर्तिरत्नसूरि जी के ५१ शिष्य थे। श्रीलावण्यशीलोपाध्याय (मेठिया गोत्रीय) एवं हर्षविशाल, वा० शांतिरत्नगणि, वा० क्षान्तिरत्न गणि वा० धर्मधीरगणि आदि मुख्य शिष्य थे। श्री क्षान्तिरत्न गणि आगे चलकर आपके पट्टधर श्री गुणरत्नसूरि हुए। आचार्य प्रवर श्री जिनभद्र सूरि के स्वर्गवासी होने के अनन्तर श्री कीर्तिरत्नसूरिजी ने उनके पट्ट पर श्री जिनचन्द्रसूरि जी को सूरिमन्त्र देकर गच्छनायक पदारूढ किया।

सं० १५२५ में आपने ज्ञान-बल से अपना आयु-शेष २५ दिन पूर्व ही जान लिया और १५ दिन के उपवास की संलेखना करके सोलहवें दिन सङ्घ के समक्ष अनशन आराधना पूर्वक समस्त सङ्घ व साधु-साध्वियों से क्षमत-क्षामणा करते हुए मिती वैशाख बदि ५ के दिन स्वर्गवासी हुए। जिस वीरम-पुर में आपका जन्म हुआ था, उसी नगरी में आपका स्वर्गवास भी हुआ।

मिती वैशाख बदि ६ के दिन आपके स्तूप और चरणो की प्रतिष्ठा श्री जिनभद्र सूरि जी के पट्टधर श्री जिनचन्द्रसूरिजी ने करवाई ।

जिन दिन आचार्य श्री कीर्तिरत्नसूरिजी का स्वर्गवास हुआ था उस दिन अपने आप उनके पुण्य प्रभाव से जिनालय मे दीपक प्रदीप्त हो गए ।

खरतर गच्छ मे सुप्रसिद्ध महान् प्रभावक दादा गुरुदेवो की भांति आपका भी चमत्कारिक प्रभाव विस्तार हुआ और स्थान स्थान पर स्तूप-चरण एव प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हुई । वीरमपुर-नाकोडा पार्श्वनाथ जिनालय मे आपकी प्रतिमा विराजमान है जिसका चित्र इसी पुस्तक मे प्रकाशित है और उसका अभिलेख भी संलग्न है । आपके स्तूप की विस्तृत प्रशस्ति भी प्राप्त हुई है जो इस प्रकार है—

"॥ श्री वर्द्धमान देवस्य शासनाजयताच्चिरं ।
अद्यापि यत्र दृश्यन्ते बहु मर्वा नगोत्तमा। । १ ॥

कि कल्पद्रु रयं व्यधायि विधिना कि वादधीवि शुचिः
कि वा कर्ण नरेश्वरः पुन रमौ भूमण्डले वा चरत्
यं दृष्टेति वितर्कयन्ति कवयो दान ददान धन
श्री वीदाधिप भूपति. सजयति श्री भोजराजागजः ॥१॥
प्रताप तपनाक्रान्ता श्री वीदा पृथिवी पते ।
धूका इवाराय. सर्वे सेवन्ते गिरि कन्दरा. ॥२॥ तथा हि—

श्री ऊकेश बशे श्रीशखवाल शाखाया सा । कोचर सन्ताने सा० रतना भार्या मोहण देवी पुत्रौ० सा० आपमल्ल सा० देपाभिधानौ धनिनौ बभूवतु सा० आपमल्ल पुत्रा सा० पेथा, सा० भीमा, सा० जेठाख्या अभवन् सा० दपा भार्या देवलदेवी पुत्राः सा० लक्खा, सा० भादा, सा० केल्हा, सा० देल्हाभिधा धनवन्त तेषु च सा० देल्हाक श्रीमत्खरतर गच्छे श्री जिनवर्द्धनसूरि करे स० । १४६३ आषाढाद्य ११ दिने दीक्षा लात्वा, स० १४७०वर्षे श्री कीर्त्तिराज गणि वाचनाचार्य भूत्वा, सवत् १४८० वर्षे वैशाख सुदि १० दिने श्री जिनभद्र-सूरि करे उपाध्याय पद प्राप्य, स० १४९७ माघ सित दशम्या श्री जैसलमेरौ

श्रीजिनभद्रसूरि हस्ते स्व भ्रातृ सा। लखा, सा। केल्हा कारिताति विस्तारोत्सवे श्री भावप्रभसूरि पट्टे श्रीकीर्तिरत्नाचार्या बभूवतुः ते चोत्तर देशादिषु प्रतिबोधितानक नवीन श्रावक संघा गीतार्थी कृत श्री लावण्यशीलोपाध्याय, वा। शान्तिरत्न गणि, वा। क्षान्तिरत्न गणि, वा। धर्मधीर गणिः अनेक शिष्य वर्गाः ततः आत्मायुरन्तं विज्ञाय पञ्चदशोपवासैः प्रथमं संलेखनं कृत्वा षोडशोपवासि सदा साहसिकतयार्हदादीन् साक्षी-कृत्य, चतुर्विध, संघ समक्षं स्वमुखेनानशन गृहीत्वा, पालयित्वा दश दिनान् एवं पंचविंशति दिनात् शुभ ध्यान तोति बाह्य सं० १५२५ वैशाख बदि ५ पंचम्यां श्री वीरमपुरे स्वर्ग प्रसूताः। तस्मिन् दिने तत्पुण्यानुभावतः श्री जिनविहारे स्वयं प्रादाब्य दीपाः स्पष्टं बभूवस्तुरितिः ततश्च। तस्मिन् श्री राठौड़ वंश चूडामणि श्री बीदा नाम नरेश्वर स्वयं स्थापित श्री वीरमपुरे न्याय राज्यं प्रतिपालयति सति अधादेशात् सा। केल्हा भार्या केल्हणदेवी पुत्र सा। धन्ना, सं० मना, सं० माला, सं० गोरा। सा। डूंगर, सा। शेषराज, सुश्रावकैः सा। मादा पुत्र सा भोजा, सा० लक्खा, सा० गणदत्तः, तत्पुत्र सा० मांडण सा। जगा प्रमुख परिवार सश्री कैः सं०। १५१४ बहु सघ मिलन श्री शत्रुञ्जय श्री गिरनार तीर्थातिविस्तारतीर्थयात्राकरणप्राप्तसंघपतिपदतिलकैः श्री गिरनार देव्यः श्री वीरमपुरे श्री शान्तिनाथ महाप्रसाद विधापन सफलीक्रियमाण लक्ष्मी कैः संवत् १५२५ का वैशाख बदि५ दिने श्री कीर्त्तिरत्नाचार्याणां स्तूप स्थापितः कारितश्च पादुका सहितस्तं स्व प्रतिष्ठितस्य श्री खरतर गच्छे श्रीजिनभद्रसूरि पट्ट श्री जिनचन्द्रसूरिभिः शुभंभवतु शिष्य कल्याणचन्द्र सेवितः प्रशस्ति लेखन हर्षविशालो प्रशस्ति चिरनंदतु श्रीरस्तु॥ [ पत्र १

श्री कीर्ति रत्नसूरि जी की प्रतिमा तीर्थनायक श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ जिनालय के गर्भगृह के आगे आले में विराजमान हैं जिस पर यह लेख है—

"श्री कीर्तिरत्नसूरि गुरुभ्यो नमः संवत् १५३६ वर्ष सा० जेठा पुत्री रोहिणी प्रणमति

नाकोड़ा तीर्थ के खरतर गच्छीय सा० माला के बनवाए हुए शान्तिनाथ जिनालय में स्थित चरण पादुका पर निम्नोक्त लेख हैं—

संवत् १५२५ वर्षे वैशाख बदि ५ दिने वीरमपुरे श्री खरतर गच्छे श्री कीर्त्तिरत्नसूरीश्वराणां स्वर्गः । तत्पादुके श्री शंखवालेचा गोत्रे सा० काजल पुत्र सा०तिलोकसिंह खेतसिंह जिनदास गउड़ीदास-कुशलाख्येन भरापितं । शाके १४३३ प्रवर्त्तमाने ( ? ) सं० १६३१ वर्षे मगसर सुदि २ दिने प्रतिष्ठितं ।

खरतर गच्छ दादावाड़ी में सं० २००० में श्री जयसागरसूरिजी के सानिध्य में श्री जिनदत्तसूरि, मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि और श्री कीर्ति रत्नसूरिजी की पादुकाएँ यतिवर्य नेमिचन्द्र जी ने स्थापित की। इतः पूर्व यहाँ पर श्री जिन दत्त सूरि जी और श्री जिनकुशलसूरिजी की पादुकाएँ स्थापित थीं।

उपाध्याय ललितकीर्त्तिकृत गुरु स्तुति से विदित होता है कि आपकी चरणपादुकाएँ व स्तूप आबू, जोधपुर, राजनगर आदि स्थलों में भी स्थापित थे। यतः

'पगला अरबुद गिर भला, योधपुरै जयकार
राजनगर राजै सदा, थुंभ सकल सुखकार ॥८॥'

अभयविलास कृत कीर्तिरत्न सूरि गीत मे गडालय–नाल में सं० १८७९ मिती वैशाख बदि १० के दिन आपके प्रासाद निर्माण होने का इस प्रकार उल्लेख है—

कीर्त्तिरतनसूरि गुरुराय, मंहिर करो ज्युं संपति थाय।
अठारें सैं गुण्यासीये वास, वदि वैशाख दशमी परगास ॥१३॥
रच्यो प्रासाद गडालय मांहि, दोय थांन सोहे दोनु बांह।
सुगुरु चरण थाप्या घणे प्रेम, सुजस उपयो कांतिरतन एम ॥१४॥

बीकानेर जैन लेख संग्रह लेखाङ्क २२९९ मे इसके महत्वपूर्ण अभिलेख की नकल इस प्रकार प्रकाशित है।

॥सं० । १४६३ मध्ये शखवाल गोत्रीय डेल्ह कस्य दीपाख्येन पित्रा सम्बन्धः कृतः ततः विवाहार्थं दूलहो गतः, तत्र राडद्रह नगर पार्श्वस्थायास्थल्यां

एको निज सेवक केनचिद् कारणेन मृतो दृष्टः, तत् स्वरूपं दृष्ट्वा तस्य चित्ते वैराग्य समुत्पन्ना सर्वसंसारस्वरूपमनित्यं ज्ञात्वा म । श्रीजिनवर्द्धनसूरि पार्श्वे चारित्रं ललौ, कीर्त्तिराज नाम प्रदत्तं, ततः शास्त्र विशारदो जातः महत्तपः कृत्वा भव्य जीवान् प्रति बोधया मास ततः भ । श्री जिन भद्र सूरय स्तं पदस्थ योग्यं ज्ञात्वा दुग सं. । १४९७ मि । मा । सु० १० ति । सूरि पदवीं च दत्वा श्री कीर्तिरत्नसूरि नामानां चक्रुस्तेभ्यः शाखेषा निर्गता ततो महेवा नगरे । सं. १५२५ मि । वं । व ५ ति । २५ दिन यावदनशनं प्रपाल्य स्वर्गे गतः । तेषां पादुके सं. । १८७९ मि. । आ. । ब. १० जं । यु । भ० श्री जिनहर्षसूरिभिः प्रतिष्ठितं तदन्वये महो-श्रीमाणिक्यमूर्त्ति गणिस्तच्छिष्य पं० भावहर्षगणि तच्छिष्य उ । श्री अमरविमल गणिस्त । उ.। श्री अमृत-सुन्दर गणिस्त । वा महिमहेम स्त । पं०कान्तिरत्न गणिना कारिते च ।

खरतर गच्छ में आपकी शिष्य परम्परा कीर्तिरत्नसूरि शाखा नाम से प्रसिद्ध हुई, जिसमें साधु एवं यति परम्परा में पचासों विद्वान हुए हैं, जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की, प्रतिष्ठाएं कराईं । बीसवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् जैनाचार्य श्री जिनकृपाचन्द्रसूरिजी भी आप ही की परम्परा में हुए जिन्होंने कई ग्रन्थ एवं स्तवनादि रचे । उनके पचासों शिष्यशिष्याओ ने शासन की बड़ी सेवाएँ की । श्री जयसागरसूरि, उ. सुखसागर जी मुनि कान्तिसागरजी नामाङ्कित विद्वान थे । अब आपकी परम्परा मे केवल वयोवृद्ध मुनि मङ्गल-सागर जी एवं कुछ साध्वियाँ विद्यमान है ।

श्री कीर्तिरत्न सूरि शंखवाल थे, इनके कुटुम्ब वाले बड़े धनाढ्य और नामाङ्कित व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने नाकोड़ा, जेसलमेर, शङ्खवाली, जोधपुर और बीकानेर आदि स्थानों में विशाल जिनालयों का निर्माण कराया । संघ निकाले, दानशालाएँ खोली । कितने ही स्वर्णाक्षरी कल्पसूत्र आदि शास्त्र लिखवाए जिनकी प्रशस्तियों तथा अन्यान्य साधनों में विस्तृत इतिहास छिपा पड़ा है जिन पर प्रकाश डालने के लिए शोध आवश्यक है ।

**रचनाएं —**

आचार्य कीर्तिरत्नसूरिजी बहुत अच्छे विद्वान् थे, इनकी सबसे पहली रचना जैसलमेर के पार्श्वनाथ मन्दिर की प्रशस्ति है, जो २७ श्लोकों में रची

गयी है। उसमें अनेकों महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य पाये जाते हैं। 'लक्ष्मण बिहार' नामक इस जिनालय का निर्माण कीर्तिरत्नसूरिजी के दीक्षा गुरु श्री जिनवधनसूरिजी के उपदेश से सं० १४७३ में हुआ था। यह प्रशस्ति चिन्तामणि पार्श्वनाथ मन्दिर, जो जैसलमेर का प्राचीन और प्रधान मन्दिर है, इसके दक्षिण द्वार के बांयीं तरफ दीवार पर काले पत्थर पर खुदी हुई हैं। २२ पंक्तियों में यह सत्ताईस श्लोकों वाली प्रशस्ति बड़ी सुन्दर व महत्व की है। प्रशस्ति के शिलालेख की लम्बाई दो फुट साढ़े छै इन्च और चौड़ाई एक फुट साढ़े तीन इन्च है। इसके अक्षर बड़े सुन्दर और आधा इन्च से भी कुछ बड़े खुदे हुए है। यह प्रशस्ति और उसका ब्लॉक स्वर्गीय पूर्णचन्द जी नाहर के जैन-लेख-संग्रह के तीसरे खण्ड के प्रारम्भ में ही छपा हुआ है। इस प्रशस्ति का संशोधन उस समय के प्रसिद्ध विद्वान वा० जयसागर गणि ने किया था, और धन्ना नामक सूत्रधार ने इसे उत्कीर्ण किया था। प्रशस्ति का अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

"प्रशस्ति विहिता चेयं कीर्तिराजेन साधुना।
धन्नाकेन समुत्कीर्ण्णा, सूत्रधारेण सा मुदा ॥२७॥

साधु कीर्तिराज, जो कीर्तिरत्नसूरि जी का दीक्षा नाम था, वही नाम इस प्रशस्ति में उल्लिखित है। सं० १४७० मे इनकी विद्वता से प्रभावित होकर आचार्य श्री जिनवर्धनसूरि जी ने इन्हें वाचक पद से विभूषित कर दिया था, पर सं० १४७३ की प्रशस्ति में वाचक पद नहीं लिखा है। तब से लेकर आप ५५ वर्ष तक साहित्य रचना करते रहे। पर आपकी अन्य सब रचनाओं में रचना समय का उल्लेख नहीं है,इसलिए उनका क्रमिक रचनाकाल नहीं बतलाया जा सकता, रचनाकाल के उल्लेख वाली दूसरी रचना अजितनाथ जपमाला चित्र स्तोत्र सं० १४८६ में रचित ३७ श्लोकों का काव्य है। इसकी उसी सम्वत् की लिखी हुयी एक पत्र की सुन्दर प्रति हमारे संग्रह में है। उसकी नकल यहाँ प्रकाशित की जा रही है। यह एक चित्र-काव्य है। अच्छा होता इसे चित्र काव्य (जपमाला) के रूप में प्रकाशित किया जाता। इस स्तोत्र की रचना से

छः वर्ष पहले सुप्रसिद्ध आचार्य जिनभद्रसूरिजी ने आपको उपाध्याय पद से अलंकृत कर दिया था पर आपने इस स्तोत्र के ३६ वें पद्य में 'कीर्तिराज साधु' ही नाम दिया है। 'उपाध्याय' पद का उल्लेख नहीं किया, यह आपकी निर-भिमानता व निस्पृहता सूचक है। इसके अन्तिम पद्य में 'इन्द्रनगरी' के अजित जिन कल्याण करें, ऐसा उल्लेख है. यह 'इन्द्रनगरी' कौनसी थी ? प्रमाणाभाव से निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

सं० १४६० में आप योगनीपुर-दिल्ली में थे, तब आपने यजुर्वेद की प्रति प्राप्त की थी, वह १५६ पत्रों की प्रति अभी स्वर्गीय आगमप्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी के संग्रह में है। अन्तिम प्रशस्ति इस प्रकार हैं—सम्वत् १४६० वर्षे श्री योगिनिपुरे श्री कीर्तिराजोपाध्यायैः ॥ जु (य) जुर्वेद पुस्तकं प्राप्त.................... ।

इस प्रति से आप केवल जैन शास्त्रों के ही विद्वान नहीं थे, पर वेदों के भी अध्यैयता थे, सिद्ध होता है। युजुर्वेद की यह ५४१ वर्ष पहले की लिखी हुयी प्रति अवश्य ही महत्वपूर्ण है। आपके और आपके शिष्यों के लिखवाई हुयी अनेकों हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे देखने में आयी हैं, जिनसे आप केवल साहित्यकार ही नहीं, पर साहित्य के संग्रह एवम् संरक्षण में भी आपका बहुत ही महत्वपूर्ण योग रहा सिद्ध होता है।

प्राकृत संस्कृत और तत्कालीन प्राचीन राजस्थानी लोकभाषा में आपकी कई रचनाएँ प्राप्त है, जिनमे से नेमिनाथ महाकाव्य सं० १४७५ की रचना है और रोहिणी स्तवन् सम्वत् १४६७ की। अजित स्तुति को छोड़कर अन्य रचनाओं में रचना काल नहीं दिया गया।

अपने साहित्यिक शोध के प्रारम्भ काल में ही हमें आप ही के शि० शिवकुंजर की एक महत्वपूर्ण स्वाध्याय संग्रह पुस्तिका प्राप्त हुयी थी, जिसमें आपके रचित निम्नोक्त रचनाएँ लिखी हुयी हैं—

यह प्रति सं० १४६३ की लिखी हुयी है, अतः ये सभी रचनाएँ इससे पहले की ही रचित सिद्ध होती हैं।

(१) महावीर विवाहलो गाथा ३२ आदि—सिद्धि रमणी० ।

(२) अजितनाथ जपमाल चित्र स्तोत्र श्लोक ३७ सं० १४८६, इन्द्रपुरी ( परिशिष्ट में प्रकाशित ) ।

(३) जैसलमेर २४ जिन स्तवन गाथा २५ आदि—ऊजल केवल० ।

(४) पुंजोर वीनति गाथा १६ (महा हरस०) ।

(५) नेमिनाथ वीनति गाथा २० (तिहुअण जण०) ।

(६) तलवाड़ा शान्ति स्तवन गाथा १५ (श्री मरूदेश मझारि०) ।

(७ रोहिणि स्तवन गाथा ४ (जय रोहिणी वल्लह) सं० १४६७ ।

(८) नेमिनाथ ज्ञानपचमी स्त० गाथा ११ (वंदामिनेमि नाह०) (अन्य प्रति में गा० १३ परिशिष्ट में प्र० ।

(१०) शान्तिनाथ स्तुति गाथा ४ (वरसोलां मलागुन्दउड़ा खजूर) इस ११ गिरनार चैत्यपरियाही १२ पार्श्व एतदत प्रशस्ति पर साधुसुन्दर रचित टीका भी हंमविजयजी ज्ञानभण्डार में प्राप्त है ।

इनके अतिरिक्त हमारे सग्रह में "अन्यार्थाः स्तुति एवम्" १४ 'चत्तारि अट्ठ दश' गाथा के छः अर्थो वाली सात गाथाएं भी लिखी हुयी मिली है । इनकी दीर्घायु को देखते हुए और भी बहुत सी रचनाएँ मिलनी चाहिएं ।

आपके लिखवाई हुयी स्वर्णाक्षरी कल्पसूत्र की एक महत्वपूर्ण प्रति के प्रशस्ति पत्र हमारे संग्रह में है । इसीतरह एक सचित्र कल्पसूत्र की २६ श्लोकों की प्रशस्ति भी हमारे संग्रह में है, इन सब में आपके वंशजों का काफी विवरण पाया जाता है । अर्थात् आपके वंश वाले बहुत धनाढ्य व्यापारी रहे हैं, जिन्होंने जैनमन्दिर, मूर्तियाँ, पादुकाएं, ग्रन्थलेखन आदि धार्मिक, कार्यों में प्रचुर द्रव्य व्यय किया था ।

अनेक देशों और ग्राम नगरों में आपने विहार करके धर्म प्रचार और साहित्य साधना की थी । शत्रुञ्जय गिरनार आदि अनेक तीर्थों की संघ सहित यात्रा की थी । वीरमपुर, जैसलमेर, पुंजौर, तलवाड़ा, दिल्ली आदि अनेक स्थानों में आपने चौमासे किये थे, जिनका उल्लेख आपकी कृतियों में और समकालीन अन्य रचनाओं में प्राप्त हैं । संक्षेप में आप पन्द्रहवीं शती के उत्तरार्ध

और सोलहवीं के प्रारम्भ के एक महान प्रभावशाली धर्माचार्य और विशिष्ट साहित्यकार थे।

आपके पट्ट पर श्री क्षान्तिरत्न गणि को गच्छनायक श्री जिनचन्द्र सूरि जी ने वीरमपुर में सं. १५३५ मिती आषाढ़ बदि ९ के दिन स्थापित कर श्रीगुणरत्नसूरि नाम से प्रसिद्ध किया जिसका वर्णन गुणरत्नसूरि वीवाहला में इस प्रकार पाया जाता है—

क्रमिक्रमि वीरमपुर बरे आविया,भाविया मोरु जिम नाचताए ॥३०॥
सकल श्री संघिस्युं जिनचन्द्रसूरि, बयसि एकान्ति विमासिउं ए।
आचारिज पदि क्षांतिरत्न गणि, थापिसिउं एह प्रकाशिउं ए।३१।
तयणु तेड़ाविज्यो सीस महूरत, सुधउ लगन गणाविउ ए
पनर पइंत्रीसा साढ वदि नवमी मङ्गलवार जणावियउ ए ॥३२॥

वस्तु छन्द—तत्थ वीरम, तत्थ वीरमपुर मञ्जारि।
सयल संघ आणंदिउ उछरंगि तिह करइ उच्छव
संघाहिव केल्हा तणय धन्नराज मनराज बधव
दीवाणे दीपक मलउ मणिमत्थ भाल मयंक
उच्छव काज उमाहियउ मरुमण्डलि अकलंक ॥३३॥

गुण रत्न सूरि की एक रचना 'विचार अलावा', की नौ पत्रों की प्रति सं० १६१६ की लिखी हुई, जैसलमेर के बड़े उपाश्रय में हमने देखी थी।

आ. कीर्तिरत्नसूरिजी के अन्य शिष्य कल्याणचन्द्र रचित कीर्तिराज सूरि विवाहलउ नामक ५४ पद्यों का एक ऐतिहासिक काव्य हमें प्राप्त हुआ है, उसे भी यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। सम्वत् १५२५ में कीर्तिरत्नसूरिजी का स्वर्गवास हुआ, उसके कुछ समय बाद ही यह काव्य रचा गया अतः सूरि जी सम्बन्धी यह एक प्रामणिक रचना है। कल्याण चन्द्र रचित कीर्तिरत्नसूरि चउपई हमारे ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह' में प्रकाशित हो चुकी है। इनकी एक महत्वपूर्ण रचना 'मान-मनोहर' की सम्वत् १५१२ की लिखी हुयी प्रति पाटड़ी भण्डार में होने का उल्लेख 'जिन रत्न कोष' के पृष्ठ ३०८ में प्रकाशित है।

गत ५०० वर्षों में कीर्तिरत्नसूरिजी की शिष्य परम्परा में सैकड़ों कवि और विद्वान हो चुके हैं, उन सबका परिचय देना एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है, ४५ वर्ष पूर्व श्री जिन कृपाचन्द्रसूरि ज्ञानभण्डार बीकानेर में हमने एक बड़ा गुटका देखा था, जिसमें कीर्तिरत्नसूरिजी की परम्परा का विस्तृत विवरण था।

कीर्तिरत्नसूरि और और उनकी परम्परा के सम्बन्ध में हमने बहुत-सी सामग्री इकट्ठी की थी, पर उसे व्यवस्थित रूप देने और प्रकाशित करने का सुयोग अभी तक नहीं मिला। ऐसे महान् विद्वान् जैनाचार्य के नेमिनाथ महाकाव्य को सानुवाद प्रकाशित करते हुए हम धन्यता का अनुभव कर रहे हैं।

परिशिष्ट (१) कीर्तिरत्नसूरिजी की रचनाऐं—

### श्रीजिनकीर्त्तिरत्नसूरि प्रणीतम्

## (१) अजितनाथ-जपमाला-चित्र-स्तोत्रम्

जिनेन्द्रमानन्दमयं जितैनः, पक्ष प्रवीरं दुरितापहारम्।
नुभामि देवं प्रकटानुभावं, नव्यं पवित्रं गुणपीनपात्रम् ॥१॥
निष्काभभासं शिवसन्निवासं, गजध्वज त्वां मिजिताङ्क नुत्वा।
निःश्रेयसं रक्तिरुषा निवार, जनः सदा नम्य बभाज को न ॥२॥
सदा बिडौजाश्चरणौ सतेजा, यस्याऽनराते: शुभकायकान्ते:।
ननाम दूरं बहुमानसारं, स्तुत्यः सभृत्यस्य ममास्तु नित्यम् ॥३॥
सम्यक्प्रसादाद्, भवतःसभन्दाद्-स्त्रिलोकराजः सुचरित्रिणौज।
गता अनन्ता मति सङ्गति तां, विधेहि शम्भो मम संविदम्भोः ॥४॥
चिनोति यः कश्चन ते विशोकं, लसच्छ्रियं कान्त विशालरोकाम्।
ययौ परं शर्ममयं यतीश - पदं सयुक्ति क्षतपापंक्तिः ॥५॥
भदन्त देव क्षणु लोभभावं, तक्षेश कोपं मम कृन्त पापम्।
रक्षां प्रभो मे कुरु धीर कामे - श्वराधिपारं नय विश्वतार ॥६॥

सत्वांश्च रागाद्यरितः सरोगान्, यत्त्रायसेऽत्यर्थममाय नित्यम् ।
प्रभो कृपामातनुषे प्रभेमां, दया मया वैभव सन्दरा वै ॥७॥
तपः प्रभा नुन्न निशात भानुं, यमाभाढ्यमविप्रलम्भाः ।
सुरा जगू रावकला सुधीराः, सुपश्यताराध्यमिमुं सुधीराः ॥८॥
विभो ह्यशोकं गुपिलं विशोकं, समुल्लसन्तं तव संसदोन्तः ।
ददर्श यो यादनिधे दयाया धन्यः स धर्मेस्थिरबोध शर्म ॥९॥
प्रधानदेव प्रकटप्रभाव, दमिन्निताम्तं मकरन्दकान्तम ।
पर्षद्यपारं कुसुमोपहारं, किरत्यलोलं तव नाकिजालम् ॥१०॥
दिव्यां गिरं तत्वमयीं दिवीनः, प्रपीय नामाऽजित दीप्रकामान् ।
ददर्श ते लोकचयो दयालो, कल्याणकान्ते विकलङ्कनीते ॥११॥
स्मरन्ति सत्वा जिन विस्मयात्वां, धन्या अवन्यां ध्रुव बोधमान्याः ।
निरस्तमारं जडता निवारं, तमो पहारं शिव सातकारम् ॥१२॥
सन्न द्विषज्जात नृणां समाजा, यताय केते परिपाय यन्ते ।
नव्यं वचः पङ्कवितान ताप, रक्षो नतान्मर्दयतीर वानम् ॥१३॥
मदवार रजोभारो - रूसमीररयोपमम् ।
विनौम्यरं रसात्वां रे जिनेश्वर रमाकरम् ॥१४॥

विना त्वया नाथ न कोविदानां, शर्मैषिणामंगतमः शशाम ।
विलीनमम्भोदततिं विना भोः, परां न चेदं तप तापवृन्दम् ॥१५॥
शक्रार्क सोमस्तुत वंशनाम, वन्द्य प्रशान्त स्वगुणावदात ।
जगत्प्रधान प्रविराजमान, संछिद्य बद्यं जिनहंससद्यः ॥१६॥
स्वसेवकं कर्मदनिः स्वमेकं, रक्षामुमा चन्द्रमनारतं च ।
यशः प्रकाशस्तव नायकेश, प्रवर्ततां दक्ष कुरु प्रसादम् ॥१७॥
मरुत्समूहा धुतकाममोहा, नगे समोदं तव सन्नसादम् ।
कल्याणकारं स्नपनं कपूरं, शश्वद् व्यधुस्तद् गुण कोशशस्तम् ॥१८॥
परास्तमारं भवतापहारं, मदद्रुमेभं मतकामकुम्भम् ।
वन्द्यं भवन्तं हृदय वसन्तं, प्राप्नोति शम्भो सुकृतीप्रभो भोः ॥१९॥

सुध्यायतां नाम तवासुरेना - मरैः स्मृतं मर्दितवाम काम ।
त्रस्यन्त्यघाजालमर्मित्रपुञ्जाः, पयस्तृषो वाऽपिबतां परा वा ॥२०॥
रम्यौ क्रमौ चर्चति तारकौ च, यस्तेऽस्य भीतिः क्षयमायतीति ।
यशोरमातीर्थकरे यमेती - श्वरप्रथां एक्षुकविश्वसारा ॥२१॥
विलोकितो लोकगुरो विशालो - ऽकर्मभवान्याद्यपशोकमाय ।
तिग्माधिपूरः स्म तदेति दूरं, भक्त्यादितः सादितलोभदासात् ॥२२॥
तमोरिडिम्बाः प्रणिपाततो वा, नश्यन्ति नूनं भवतो नयेन ।
सर्पा यथा रोगरजः समीरो - रुताक्ष्यंतो हन्त गुणोरुगेह ॥२३॥
प्रसीद मे सादय दीनभामा - दर्गान्विता संतममं दरास ।
गतो ह्यसातं विजयांग जात, हन्ताऽमुना तन्नटितोहमन्नः ॥२४॥
भद्राम्बुज व्यक्ति खगाभभव्य - व्रताः सभाजास्तव तीव्रतेजाः ।
सदाभिरामं स्तवनं सकामं, तरन्ति तं तत्कुलवन्त एतत् ॥२५॥
सभावनी नाथ विभासमाना, तवेश या नन्दथु माततान ।
हन्त प्रशान्तांगिसमूह कान्त, तां संस्तुवे कर्तितभीतशङ्क ॥२३॥
भदन्त हे वन्द्य विदम्भ देव तक्षाधिपुञ्जं विजयातनूज ।
नयावदातां प्रतिभां नवां तां, हितां नितान्तं मम देहि तात ॥२७॥
तव प्रभो मानव एत धामा रसात्स्मृरन्मंगलसारनाम ।
दक्षोभवे देव पयोदनादे देवाजितो वन्द्य बतोग्रवादे ॥२८॥
जिनं परं नुवं नत्र निःसंग त्वां निरञ्जन ।
संजायते नरः स्तुत्यः सदा त्रिजगतां विभो ॥२६॥
विकलं कां यशः पंक्ति भवतः परमेश्वर ।
संगायन्त्य प्रमादं वै तनु प्रभासुराः सुराः ॥३०॥
विकसन्तं दयाधर्मं प्रवन्दन्तं परं किल ।
दितप्रमादं लोकंते स्म त्वां धन्यां निरन्तरम् ॥३१॥
संजायते न परमं विना शमं विभो पदम् ।
शमवन्तं जनं - सद्यः स्वकं रचय शंप्रद ॥३२॥

महानन्दकरं शस्तपरमं भवतः प्रभो ।
सुनाम मन्त्रजापं वा रचयन्ति यतीश्वरः ॥३३॥
विलोकयन्ति रभसात् तवानन सरोरुहम् ।
प्रसाद संगतं हन्त भव्यव्रजाः समन्ततः ॥३४॥
सनातन हतातङ्कं भवन्तं जनता हितम् ।
जितमार मदं देव वन्दे दमरमाततम् ॥३५॥
श्री कीर्त्तिराजाभिध साधुनाऽधुना
संदृब्धया भो जपमालयाऽनया ।
गजाङ्कदेवं जपताद्दृता जना,
वशीभवेद्वः शिवकामिनी यथा ॥३६॥
वर्षे रसाष्टाम्बुधिसोमरूपे ( १४८६ )
चित्राक्षमाला स्तवन प्रणूतः ।
ऐन्द्रयां नगर्यामजितो जिनेन्द्रः,
करोतु कल्याण परम्परां वः ॥३६॥

❀ इति श्री अजितनाथ जपमाला चित्रस्तोत्रम् । ❀

संव० १४८६ वर्षे

( अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर सं० ६६२७ पत्र १. )

वि० वि० जैनस्तोत्र संदोह प्रथम भाग में प्रकाशित सूची के अनुसार जैनस्तोत्र सम्मुचय में कीर्त्ति रत्नसूरि रचित्र गिरनार चैत्य परिपाटी स्तवन और करहेटक पार्श्व जिन स्तवन प्रकाशित हो चुके है ।

———

कीर्त्तिराजोपाध्याय कृत

# (२) श्री ज्ञानपंचमी गर्भित नेमिनाथ स्तवन

वंदामि नेमिनाहं, पंचम गइ कुमरि विहिय वीवाहं।
भंजिय मयणुच्छाहं, अङ्गीकय सील सन्नाहं ॥१॥

॥ भास ॥

अत्थिय काया पंच कहिय जिण पंच पमाया।
पंच नाण पंचेव दाण पणवीस कसाया॥
पंच विषय पचेव जाइ, इन्द्री पंचेव।
सुमति पंच आयार पंच तह वय पंचेव ॥२॥
पंच भेद सज्झाय पंच चारित्त परूविय।
इग्यारिसि पंचमि पमुक्ख तव जेण पयासिय॥
पंच रूव मिच्छित्त तिमिर निन्नासण दिणयर।
नयण सलूणउ देव नेमि सो थुणियइ सुहयर ॥३॥

॥ वस्तु ॥

पंच वन्नहि पंच वन्नहि सुरहि कुसुमेहि।
मणि माणिक मुत्तियहि पञ्च पञ्च वत्थूणि उत्तम।
भावइ पञ्चहि पुत्थियहि पञ्च वरिस काऊण पञ्चमि॥
जे आराहइ पञ्च विह नाण ठाण लोयाण।
नेमिजिणेसर भुवण गुरु द्यउ वर केवलनाण ॥४॥

जिण मूल उमूलिय पञ्च बाण, पञ्चम गइ पामिय जेणि ठाण।
सावण सिय पञ्चमि जम्म जासु, हूं भावइ वंदु चरण तासु ॥५॥
जिण चवदह पुव्व इग्यार अङ्ग, उपदेसइ दंसिय मुक्ख मग्ग।
परमिट्ठ पञ्च मझय पहाण, त नमहु नेमि जिण होइ नाण ॥६॥

जो केसव पञ्चहि पंडवेहि, पञ्चङ्गइ पणमिय जादवेहिं।
सिय पञ्चम नाण आराहगाण, सो हरउ दुरिय जिण सेवगाण ॥७॥

॥ वस्तु ॥

पढम नाणहि पढम नाणहि भेय अडवीस।
चउदभेय सुयस्स तह अवहि नाण छब्भेय निम्मल।
मणपज्जव नाण पुण दुन्नि भेय इग भेय केवल।
एवं पञ्च पयार मिह जेग पयडिय नाण।
सो नंदउ सिरि नेमि जिण मङ्गलमय अभिहाण ॥८॥

॥ भास ॥

पञ्चासव तक्कर हरण, दिणयर जिम दीपंति।
पइ दिट्ठउ सिरि नेमि जिण, हियय कमल विहसंत ॥९॥
तुट्टइ पञ्च पयार मह, अन्तराय अन्धियार।
पञ्चाणुत्तर भाव सवि, पयडिय हुइ जगसार ॥१०॥
भवपुरि बसतां सामि हूय, राग दोस मिलिएहिं।
रयणदिवस संतावियउ ए, पञ्चिदिय चारेहिं ॥११॥
सिद्धि नयरि दिउ वास हिव, करि पसाउ जिणराउ।
पञ्चम गइ कामिणि रमण, वर पञ्चाणण ताय ॥१२॥

( कलश )

सिवादेवि नंदण पाव खंडण तरण तारण पच्चलो।
हय कम्म रिउ बल सबल केवल, नाण लोयण निम्मलो।
सिरि नाणपंचमि दिवसि थुणिइ, नेमिनाह जिणेसरो।
चउ सिद्धि संपइ देव जंपइ, कीत्तिराय मणोहरो ॥१३॥

। इति श्री नेमिनाथ स्तवनम्।

अभयजैन ग्रन्थालय प्रति सं० ९९३५ पत्र–१ १७ वीं शताब्दी लि० पं० हीरराज लिखत। १६ वी शती के गुटका रत्न में भी है।

## परिशिष्ट नं० २

**आ० कीर्तिरत्नसूरि सम्बन्धी ऐ० अज्ञात रचना**

# (३) चतारि अट्ठ दस षट अर्थाः

चत्तारि जिणवीसं ठाणेसु सिद्ध संग मणु पत्ता।
अट्ठदोस मिलिया वीसे, वंदामि सम्मे, ए ॥१॥
रिसहाण णाह सासय चत्तारि सासउ वन्दे।
अट्ठ दस दोइ वीसं गए दंतट्ठिए सु वन्दामि ॥२॥
चउ गुरु अट्ठ अडयाला दस दो बारस तहा सट्ठी।
एवं चउमुह जिण चेइए सु वंदामि जिण नयरं ॥३॥
अट्ठ दस दोइ वीसे, ठाणे आराहिउणमे सिद्धा।
नामाइ जिण चउरो तेसिं वंदामि भत्तीए ॥४॥
चत्तारि सासयउ पडिमा वंदामि तिव्व।
अट्ठ दस दोइ वीसं वट्ट वेयट्टेसु चेइसु ॥५॥
अट्ठ दस दोइ वीसे ते चउग्रणिया सवे असी संखा।
एवं जिण भवणाइ वंदेहं पच मेरुसु ॥६॥
सुसहर कय नव अत्था, तदुवरि सिरि कित्तिरयणसूराहिं।
रईआ इमेत्थ अत्था, खरतर गण जलधि रयणेण ॥७॥

इतिषट अर्थ श्री कीर्तिरत्नसूरि विरचिता पत्र १ नं०६६२४
अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर।

## [४] अन्यार्थ स्तुति

वरसोलां भला गूदबड़ा खजूर साकर।
शांति दद्या सदाचारा नोल पादंह्रिखारिका ॥१॥
अंदर सा गुणाधार, लापसीभां नमीश्वर।
अघेवर जलेबी जव रागा स्फुरेति कीर्तीय ॥२॥
सुकाचरी सु कारेला, वडी पापड़ काकडो।
को सांगरी इसी वांणी जैनी भूया सदा फलं ॥३॥
कपूर लवंग रस, सदा पान फरो हरे।
तंबोल खयरसारंव सोपारी सुथितं क्रियात ॥४॥
इति श्री अन्यार्था स्तुति। कीर्तिरत्ना चार्यायं।

( कल्याण चन्द्र कृत )

# श्री कीर्तिरत्नसूरि वीवाहलउ

भत्ति भर भरियउ हरिस सिरि वरियउ
पणमिय संतिकर सतिनाहं।
सारदा सामिणी हंसला गामिणी
झाणिहि निय हिय करि सनाहं ॥१॥
नाण लोयण तणउ अम्हं दातार गुरु,
अनम गुणवंत सिरि मउड मणि।
तेण सिरि कितिरयण छरीसरे हिव
कहिसु हउं चरिम धरि मतिमणि ॥२॥
देश मरू मडलं सहिज अति मुज्जलं,
महिय हेलइ भासंति भालं।
तिलकु जिम सोहए बहु मोह,
तिहां महेवापुरे सिरि विसालं ॥३॥
लोग धनवंत गुणवंत सुविलासिनी,
कामिणी गढ मढा वास सत्थं।
दीसइ जं पुरं जण पुरंदर पुर
भोगयं भरह सिरि दंसणत्थं ॥४॥
संतिजिण वीरजिण नवण, धयवड मिसिण,
तज्जुयंतो परम मोहसंतु।
साहुजिण थणिय गुण अणदिणं गाजए,
राजए राउ जिणधम्म भत्तु ॥५॥
तत्थ उवएस वंशे मही पयडओ,
धम्म धुरु धोर कुल संखवालं।
कणय धण रयण संतानि सुसमिद्धओ
सोहइ सायर जिम विशालं ॥६॥
अत्थि विवहारिणो बहुय गुण धारिणो,
आप मनल्लो तहय देप नाम।
राम लखमण जहा नह निब्भर तहा,
बंधवा दोइ धनवंत धाम ॥७॥

देप घरि भामिणी रूप सुर कामिणी,
रमणि गुण रयण संइच परीणा ।
सील सोहामणि सुगुण अनुरागिणी,
देवलदेवि जिण धम्म लीणा ॥ ८॥
तीहवर उअर सरि अवरिय हंस वरि,
अहिसमणि सूइओ सद्ध परक्खो ।
पुत्त गिरि रोहणो रयणु जिमि मेरु गुरि कप्परुखो ॥९॥
चवदसइ इगुणपंचास ए वच्छरे १४४९
विक्कमे चेत सुदि सक्रवारे ।
अट्ठमें पुणगवस चउथ पाए ससि
निशि कुमर जाइओ देपनारे ॥१०॥
करिय वद्धामणउ सुयण सोहामणउ
दाण दिज्जंति बाजंति तूरि ।
दिवस दसि नवनव करिय पिउ उच्छवा,
नाम किय देलह आणंद पूरे ॥११॥
नेह तरु कंदलो बीय जिमचंदलो,
वाधए दिनदिने अहि कुमारो ।
अगणे खेलए अमिय रस रेलए,
सुयण गण नयण रूवेण सारो ॥१२॥

॥ वस्तु ॥

पुर महेवउ पुर महेवउ अघइ मरु देशि ।
उवएस वंसिहिं तिलउ संखवाल कुल कमल दिणयर ।
दुई बंधव सधर तिहि, आपमल्ल देपा सहोदर ॥
देवलदे देपा घरणि, तिणि जायउ सुकुमार ।
देलहउ नाम पतीठिउ, वाधइ रूपि अपार ॥१३॥

अह महेवइ पुरे आविउ सुन्दरो वायणारिय सिरि खेमकित्ति ।
देल्हउ बंदए चित्त अभिनन्दए देइ उवएस तसु सुगुरू झत्ति ॥१४॥

कुमरु गुरू वाणिय अमिय समाणीय, निसुणिय जाणिय भव सरूवं ।
चिंतए संजम लेसु अइ उज्जमं, करिय लंघेसु भव दुःख कूवं ॥१५॥

कुमरु हिव मग्गए निय जणणि अग्गए संयम गहण आएसु मात ।
जंप पत्तं सुणिय इक्कवारं भणिय वच्छ म कहेसु वलि एह वात॥१६॥

लेसुतुह दुक्खड़ा देसु घण सूखड़ा, गुदवड़ वरसउला विदाम ।
खारिकुक्खुरहड़ि द्राख खज्जूरड़ी दाडिम खोड जे अवर नाम ॥१७॥

कणय मणि भूषणा वच्छ गह दूषण, धरि सिरे कड़िकरे बहुकम्ने ।
पिहरतुं कापड़ा वारुय वापड़ा, जे न पिक्खंति सुमणेवि अन्ने ॥१८॥

रूपिहि रूड़िय चित्त नहुकूड़िय, ललिय लावण्ण गुणवंतु नारी ।
लाडण परणिय विसय सम्माणिय, संजम लेय पछइ विचारी ॥१६॥

कहतह सोहलउ धरत रूह दोहिलउ, पंच महव्वय भारु जेम ।
आविय मइ मंतिहि मयण मय दंतिहि, लोह चिण माउचावे जुकेम॥२०॥

माय गुरू अधियं तंज अविगाधिय चोवर रुच्चइ मह मण मझारि ।
विसय सुह चंचलं अनइ हलाहला केम कहि परण्यउ तेण नारि ॥२२॥

अइव साहस्स धरि विसम मवि ते करइ,कज्जुमह संजमा ए सुदेहि ।
जाणि अणणी सुय चरण कय निच्छयं, भणय वच्छ वंछिय करेसु ॥२३॥

॥ वस्तु ॥

अह महेवइ अह महेवइ अन्त दिवसामि वाणारि आवियउ खेमकिति ।
तसु तणइ उवए सइ उम्हायड देल्हवर दिवरत कुमरि परणिवा रेसिहि ।
माय मनावइ मन रलिय, मुज्झ मनोरथ पूरि ।
पुत चित्त जाणी भणइ, लयव्रत पातग चूरि ॥२४॥

॥ भास ॥

लखु भादउ केल्हराज जसु बंधव धनवंत।
करइ अनोपम धरमकाज,सहजिहि साहसवंत ॥२५॥
ते मेलेविणु संघ घणा, कुंकुत्तडिय पठावि ।
सोहइ सासण जस्स तणउ ए,विस्तरि ज्ञान बलावि।२६॥
खूप अनोपम धरइ सिरि, वाहइ बाहुय रक्ख ।
कानि सकंचन रयण करे, मुद्रा कुमरि सदक्ख ॥२७॥
क्रमि क्रमि देल्हउ कुमरु वरो, राडद्रहिपुरि पत्तु ।
वंदिय भावइहि सूरिबरो नव अण बट संजुत ॥२८॥
आपइ देमण पूगफल, जानह तणइ प्रवेसि ।
सामहणी हिव गुरू करए, वय वीवाह हरेसि ॥२९॥
धस मस धावइ धामिणी ए, धम्मह केरइ काजि ।
गावइ गायणि कामिणी, रहिउ अंबर गाजि ॥३०॥

॥ भास ॥

मडिय चउरिय नंदि, सवि सुयण मिलि आणंदिए ।
नंदिय आगम वेद ए, गुरू माहुण भणइ अखेदए ॥३१॥
गावइ मगल चारुए, तिणि अवसर सूहव नारिए ।
ज्झाणानल पजलंतिए, घय चिक्कण कम्र्म दहंतिए ॥३२॥
हथलेवउ कुमरेणए, लाडिय रयहरण करेण ए ।
सिरि जिणवद्धंन सूरिए, सुभ लगनि करावियं भूरि ए ॥३३॥
चवद तेसठइ (१४६३) वच्छरिहि, आषाढा वदि एगारसिहिं ।
देल्ह कुमरु गुरुवारि ए, परणिय गुरू दिक्स कुमारिए ॥३४॥
कीरतिराज प्रसिद्धिए, तसुनाम मनोरम कीधुए ।
अणवर नव परणाखियाए, सरसा संजमसिरि भाक्यिा ए ॥३५॥
बधव सधर उदार ए, तसु वेवइ वित्त अपार ए ।
खेला - खेलाइ रंगिए, सवि वांजित्र वाइज चंगिए ॥३६॥

॥ वस्तु ॥

कुमरु पत्तउ क्रमरु पत्तउ, जान संजुत्त ।
राउद्रहि पुरि सुघण सुयण, जणणि बंधविहि सोहइ ।
नव अण वट सहिय जण मणु,अणेग आभरणि मोहइ ।
देल्लिग वरु चरणावियउ, मंडिय पउरिय नंदि ।
सिरि जिणवर्द्धनसूरिनिय, दिक्ख कुमरि आणंदि ॥३७॥

॥ भास ॥

कहिय जिणवर तणा, भणिय
आगम छणा, लक्खण, तर्क नाटक पुराण ।
पंच सुमितिहिं सहिय गुत्ति तिहिं,
अविरहिय वहरए कितिराजो सुजाण ॥३८॥
जाणि जिनवर्द्धनसूरि गुण वर्द्धन,
पंडिय गुण गण माँहि राउ ।
चवदसह सत्तरे(१४७०) पट्टणे पुरवरे,
कियउ 'बाणारिउ' कित्तिराउ ॥३९॥
भविय जण बोहए वादि पड़ि रोहए,
लहुय वय तहवि गुरु गुण विसालो ।
सुयण सुपयास ए तिमिर भर नासए,
दिणयरो जह उदयंमि वालो ॥४०॥
नयरि महेव ए चउदसय असियए(१४८०),
कित्तिराजोय जिणभद्द सूरि ।
दसमि वइसाह सुदि ठविय उवज्झाय पदि,
हरिसिय देवलदेवि भूरि ।४१॥
करिय विहार सुविचार उत्तरदिशि,
निय सदाचार आगम बलेणं ।
खरतराचार लीणाउ बण साविया,
निम्मया अभिनवा तत्थ तेणं ॥४२॥

॥ वस्तु ॥

नयरि पट्टणि नयरि पट्टणि, चवद सय सतरइ,
जिणवर्द्धनसूरि किय वणारि ।
अह महंवय वइमाह सदि दसमि खणि चउद असीहि जिण भद्रसूरि ।
कित्तिराय उवज्झाय किय, हरसिय देवलदेवि ।
पड़िवोहिय श्रावग घणा वहुय विहार करेमु ॥८:॥

॥ भास ॥

अहसिरि जेसलमेरु मझारी, उच्छव काराविजय वित्थारि ।
बंन्नव लक्खउ केल्हउ साहू, वेवइ वतु मनि धरि उच्छाहु ॥४४॥
चउद सताणुवइ(१४९७)दसमि सिय माघे
सिरि जिण भद्रसूरि हरिसिय ।
सिरि आयरिय पदि अभिरमि,
किया सिरि कित्तिरयण सूरिनामि ॥४५॥

॥ वस्तु ॥

नयरि जेसल नयरि जेसल मेरु मझारि, जिणभद्दसूरिंद ।
सिरि कितिराज आयरिय किद्धउ ।
सिरि कितिरयण पवर नाम तासु पसिद्धउ ।
चवदह सत्ताणवइ सिय माह दसमी वुधवारि ।
लक्खा केल्हा बंधविहि, उच्छव किय वित्थारि ॥४६॥

॥ भास ॥

थापिउ सिरि जिणभद्दसूरि पाटिहि सिरि जिणचंदसूरि ।
कयउ लावण्णशीलो उवझांइ, कित्तीरयणसूरि सुगुण भूरि ॥४७॥

करिय वाणारिय नियकरे, पंच दिक्खिया सीस आयरिय राउ ।
मालारोपण किद्ध सुपवत्र थापिया वहुय संघाहिवा ए ॥४८॥

आगम लक्खण तरक भणेवि करिय, पंडित घणा सीस जेण ।
दिण पणवीस परमाण निय आउ जाणि सुह झाणि गय चडिय तेण।४९॥

करिय संलेहणा पनर उपवास सोलमइ अणसण उच्चरी ए ।
पनर पणवीस वइसाख बदि पतु पंचमिहि सुहगुरु सुरपुरीए ॥५०॥

बीस पणदिण तवं सुकृत भर संभवं, उल्लासिय तेय तनु गुरुवराण ।
जाणु रवि मंडलं दिप्पइ निम्मलं,आउ पुज्जंति जह सिरि जिणाणं॥५१॥

अणसण सीधउ तव सुरेहि किद्धउ कउतिग जडिय जिणहर कमाड़ि ।
दिवस दिवा किया लोक अवलोकिया, तक्खण बार पयडं उघाड़ि ॥५२॥

हिवसिरि कित्तिरयणमूरि पाय थुमि पूजउ सुगुरु बुद्धि ।
वीरमपुरि जह ठवण जिणराय जेम हुइ तुम्ह सम्मत सुद्धि ॥५३॥

एह वीवाहलउ जो भणइ भावि तसु मणोवछिय देइ इंदो ।
भत्तु सिरि कित्तिरयणसूरि पाय सीस तसु कहइ कल्लाणचंदो ॥५४॥

# नेमिनाथमहाकाव्य : समीक्षात्मक विश्लेषण

जैन संस्कृत महाकाव्यों में कविचक्रवर्त्ती कीर्त्तिराज उपाध्यायकृत नेमिनाथमहाकाव्य को गौरवमय पद प्राप्त है। इसमें जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का प्रेरक चरित्र, महाकाव्योचित विस्तार के साथ, बारह सर्गों के व्यापक कलेवर में प्रस्तुत किया गया है। कीर्त्तिराज कालिदासोत्तर उन इने-गिने कवियों में हैं, जिन्होंने माघ एवं श्रीहर्ष की कृत्रिम तथा अलंकृति-प्रधान शैली के एकच्छत्र शासन से मुक्त होकर अपने लिए अभिनव सुरुचिपूर्ण मार्ग की उद्भावना की है। नेमिनाथमहाकाव्य में भावपक्ष तथा कलापक्ष का जो मंजुल समन्वय विद्यमान है, वह ह्रासकालीन कवियों की रचनाओं में दुर्लभ है। पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा बौद्धिक विलास के उस युग में नेमिनाथ-महाकाव्य जैसी प्रसादपूर्ण कृति की रचना करना कीर्त्तिराज की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

## नेमिनाथकाव्य का महाकाव्यत्व—

प्राचीन आलङ्कारिकों ने महाकाव्य के जो मानदण्ड निश्चित किये हैं, नेमिनाथकाव्य में उनका मनोयोगपूर्वक पालन किया गया है। शास्त्रीय विधान के अनुसार महाकाव्य में शृङ्गार, वीर तथा शान्त में से किसी एक रस की प्रधानता होनी चाहिए। नेमिनाथमहाकाव्य का अंगी रस शृंगार है। करुण, रौद्र, वीर आदि का, आनुषंगिक रूप में, यथोचित परिपाक हुआ है। क्षत्रियकुल-प्रसूत देवतुल्य नेमिनाथ इसके धीरोदात्त नायक हैं। इसकी

रचना धर्म तथा मोक्ष की प्राप्ति के उदात्त उद्देश्य से प्रेरित है। धर्म का अभिप्राय: यहाँ नैतिक उत्थान तथा मोक्ष का तात्पर्य आमुष्मिक अभ्युदय है। विषयों तथा अन्य सांसारिक आकर्षणों का तृणवत् परित्याग कर मानव को परम पद की ओर उन्मुख करना इसकी रचना का प्रेरणा-बिन्दु है। नेमिनाथ महाकाव्य का कथानक नेमिप्रभु के लोकविख्यात चरित पर आश्रित है। इसका आधार मुख्यत: जैन-पुराण हैं, यद्यपि प्राकृत तथा अपभ्रंश के अनेक कवि भी इसे अपने काव्यों का विषय बना चुके थे। इसके संक्षिप्त-से कथानक में भी पाँचो नाट्यसन्धियों का निर्वाह हुआ है। प्रथम सर्ग में शिवादेवी के गर्भ में जिनेश्वर के अवतरित होने में मुख-सन्धि है। इसमें काव्य के फलागम का बीज निहित है तथा उसके प्रति पाठक की उत्सुकता जाग्रत होती है। द्वितीय सर्ग में स्वप्न-दर्शन से लेकर तृतीय सर्ग में पुत्रजन्म तक प्रतिमुख सन्धि स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि मुख-सन्धि में जिस कथाबीज का वपन हुआ था, वह यहाँ कुछ अलक्ष्य रह कर पुत्रजन्म से लक्ष्य हो जाता है। चतुर्थ से अष्टम सर्ग तक गर्भ सन्धि की योजना मानी जा सकती है। सूतिकर्म, स्नात्रोत्सव तथा जन्माभिषेक में फलागम काव्य के गर्भ में गुप्त रहता है। नवें से ग्यारहवें सर्ग तक, एक ओर, नेमिनाथ द्वारा विवाह-प्रस्ताव स्वीकार कर लेने से मुख्य फल की प्राप्ति में बाधा उपस्थित होती है, किन्तु, दूसरी ओर, वधूगृह में वध्य पशुओं का करुण क्रन्दन सुनकर उनके निर्वेदग्रस्त होने तथा दीक्षा ग्रहण करने से फलप्राप्ति निश्चित हो जाती है। यहाँ विमर्श सन्धि का निर्वाह हुआ है। ग्यारहवें सर्ग के अन्त में केवलज्ञान तथा बारहवें सर्ग में शिवत्व प्राप्त करने के वर्णन में निर्वहण सन्धि विद्यमान है।

महाकाव्य-परिपाटी के अनुसार नेमिनाथमहाकाव्य में नगर, पर्वत, वन, दूतप्रेषण, सैन्य-प्रयाण, युद्ध (प्रतीकात्मक), पुत्रजन्म, षड्ऋतु आदि के विस्तृत वर्णन पाये जाते हैं, जो इसमें जीवन के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्ति तथा रोचकता का संचार करते हैं। इसका आरम्भ नमस्कारात्मक मंगला-

चरण से हुआ है, जिसमें स्वयं काव्यनायक नेमिनाथ की चरण-वन्दना की गयी है। इसकी भाषा-शैली में महाकाव्योचित उदात्तता है। अन्तिम सर्ग के एक अंश में चित्रकाव्य की योजना करके कवि ने चमत्कृति उत्पन्न करने तथा अपने भाषाधिकार को व्यक्त करने का प्रयास किया है। काव्य का शीर्षक तथा सर्गों का नामकरण भी शास्त्रानुकूल है। कवि ने सज्जन-प्रशंसा, खलनिन्दा तथा नगर वर्णन की रूढ़ियों का भी पालन किया है। किन्तु छन्दप्रयोग-सम्बन्धी परम्परागत बन्धन उसे मान्य नहीं। इस प्रकार नेमिनाथ काव्य में महाकाव्य के अनिवार्य स्थूल, सभी तत्व विद्यमान हैं, जो इसकी सफलता के निश्चित प्रमाण हैं।

## नेमिनाथमहाकाव्य की शास्त्रीयता—

नेमिनाथमहाकाव्य पौराणिक कृति है अथवा इसकी गणना शास्त्रीय महाकाव्यों में की जानी चाहिए, इसका निश्चित निर्णय करना कठिन है। इसमें, एक ओर, पौराणिक महाकाव्य के तत्व दृष्टिगोचर होते हैं, तो दूसरी ओर यह शास्त्रीय महाकाव्य के गुणों से भूषित है। पौराणिक महाकाव्यों के अनुरूप इसमें शिवादेवी के गर्भ में जिनेश्वर का अवतरण होता है जिसके फलस्वरूप उसे भावी तीर्थंकर के जन्म के सूचक परम्परागत चौदह स्वप्न दिखाई देते हैं। दिक्कुमारियाँ नवजात शिशु का सूतिकर्म करती हैं। उसका स्नात्रोत्सव स्वयं देवराज द्वारा सम्पन्न होता है। दीक्षा से पूर्व भी वह काव्यनायक नायक का अभिषेक करता है। वस्तुतः वह सेवक की भाँति हर महत्वपूर्ण अवसर पर उनकी सेवा में रत रहता है। काव्य में समाविष्ट दो स्वतन्त्र स्तोत्र तथा जिनेश्वर का प्रशस्तिगान भी इसकी पौराणिकता को इंगित करते हैं। पौराणिक महाकाव्यों की परिपाटी के अनुसार इसमें नारी को जीवन-पथ की बाधा माना गया है तथा इसका पर्यवसान शान्तरस में हुआ है। काव्यनायक दीक्षित होकर केवलज्ञान तथा अन्ततः शिवत्व को प्राप्त करते हैं। उनकी देशना का समावेश भी काव्य में हुआ है।

इन समूचे पौराणिक तत्वों के विद्यमान होने पर भी नेमिनाथकाव्य को पौराणिक महाकाव्य नहीं माना जा सकता। इसमें शास्त्रीय महाकाव्य के के लक्षण इतने स्पष्ट तथा प्रचुर हैं कि इसकी पौराणिकता उनके सिन्धुप्रवाह में पूर्णतया मज्जित हो जाती है। वर्ण्य-वस्तु तथा अभिव्यंजना-शैली में वैषम्य, वह ह्रासकालीन शास्त्रीय महाकाव्य की मुख्य विशेषता है, जो नेमिनाथ काव्य में भरपूर विद्यमान है। शास्त्रीय महाकाव्यों की भाँति इसमें वस्तुव्यापार के वर्णनों की विस्तृत योजना की गई है। वस्तुतः, काव्य में इन्हीं का प्राधान्य है और इन्हीं के माध्यम से कवि-प्रतिभा की अभिव्यक्ति हुई है। इसकी भाषा-शैलीगत प्रौढ़ता तथा गरिमा और चित्रकाव्य के द्वारा रचना-कौशल के प्रदर्शन की प्रवृत्ति इसकी शास्त्रीयता का निर्भ्रान्ति उद्घोष है। इनके अतिरिक्त अलंकारों का भावपूर्ण विधान, काव्य-रूढ़ियों का निष्ठापूर्वक विनियोग, तीव्र रस व्यंजना, सुमधुर छन्दों का प्रयोग, प्रकृति तथा मानव-सौन्दर्य का हृदयग्राही चित्रण आदि शास्त्रीय काव्यों की ऐसी विशेषतायें इस काव्य में हैं कि इसकी शास्त्रीयता में तनिक सन्देह नहीं रह जाता। वस्तुतः, नेमिनाथमहाकाव्य की समग्र प्रकृति तथा वातावरण शास्त्रीय शैली के महाकाव्य के समान है। अतः इसे शास्त्रीय महाकाव्य मानना सर्वथा न्यायोचित है।

## कविपरिचय तथा रचनाकाल—

अधिकांश जैन काव्यों की रचना-पद्धति के विपरीत नेमिनाथमहाकाव्य में प्रान्त-प्रशस्ति का अभाव है। काव्य से भी कीर्त्तिराज के जीवन अथवा स्थिति-काल का कोई संकेत नहीं मिलता। अन्य ऐतिहासिक लेखों के आधार पर उनके जीवनवृत्त का पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न किया गया है। उनके अनुसार कीर्त्तिराज अपने समय के प्रख्यात तथा प्रभावशाली खरतर-गच्छीय आचार्य थे। वे संखवाल गोत्रीय शाह कोचर के वंशज दीपा के कनिष्ठ पुत्र थे। उनका जन्म सम्वत् १४४९ में दीपा की पत्नी देवलदे की कुक्षि से हुआ। उनका जन्म का नाम देल्हाकुंवर था। देल्हाकुंवर ने चौदह वर्ष की

अल्पावस्था में, सम्वत् १४६३ की आषाढ़ कृष्णा एकादशी को, आचार्य जिनवर्द्धनसूरि से दीक्षा ग्रहण की। आचार्य ने नवदीक्षित कुमार का नाम कीर्त्तिराज रखा। कीर्त्तिराज के साहित्य-गुरु भी जिनवर्द्धनसूरि ही थे। उनकी प्रतिभा तथा विद्वत्ता से प्रभावित होकर जिनवर्द्धनसूरि ने उन्हें संवत् १४७० में वाचनाचार्य पद पर तथा दस वर्ष पश्चात् जिनभद्रसूरि ने उन्हें, मेहवे में, उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित किया। पूर्व देशों का विहार करते समय जब कीर्त्तिराज का जैसलमेर में आगमन हुआ, तो गच्छनायक जिनभद्रसूरि ने उन्हें सम्वत् १४९७ में आचार्य पद प्रदान किया। तत्पश्चात् वे कीर्त्तिरत्न सूरि नाम से प्रख्यात हुए। उन्होंने पच्चीस दिन की अनशन-आराधना के पश्चात् सम्वत् १५२५ में, ७६ वर्ष की प्रौढ़ावस्था में, वीरमपुर में देहोत्सर्ग किया। संघ ने वहाँ एक स्तूप का निर्माण कराया, जो अब भी विद्यमान है। जयकीर्त्ति तथा अभयविलासकृत गीतों से ज्ञात होता है कि सम्वत् १८७९ में गड़ाले (बीकानेर का समीपवर्ती ग्राम नाल) में उनका प्रासाद बनवाया गया था। नेमिनाथकाव्य के अतिरिक्त उनके कतिपय स्तवनादि भी उपलब्ध हैं।[1]

नेमिनाथमहाकाव्य उपाध्याय कीर्त्तिराज की रचना है। कीर्त्तिराज को उपाध्याय पद सम्वत् १४८० में प्राप्त हुआ था और सं० १४९७ में वे आचार्य पद पर आसीन होकर कीर्त्तिरत्न सूरि बन चुके थे। नेमिनाथकाव्य स्पष्टतः सं० १४८० तथा १४९७ के मध्य लिखा गया होगा। सम्वत् १४९५ में लिखित इसकी प्राचीनतम प्रति के आधार पर नेमिनाथकाव्य को उक्त सम्वत् की रचना मानने की कल्पना की गई है।[2] यह तथ्य के बहुत निकट है।

---

१. विस्तृत परिचय के लिये देखिये श्री अगरचन्द नाहटा तथा भंवरलाल नाहटा द्वारा सम्पादित 'ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह', पृ० ३६–४०।

२. जिनरत्नकोश, विभाग १, पृ० २१७।

**कथानक—**

नेमिनाथमहाकाव्य के बारह सर्गों में तीर्थङ्कर नेमिनाथ का जीवन-चरित निबद्ध करने का उपक्रम किया गया है। कवि ने जिस परिवेश में जिन-चरित प्रस्तुत किया है, उसमें उसकी कतिपय प्रमुख घटनाओं का ही निरूपण सम्भव हो सका है।

प्रथम सर्ग में यादवराज समुद्रविजय की पत्नी शिवादेवी के गर्भ में बाईसवे जिनेश के अवतरण का वर्णन है। अलंकारों की विवेकपूर्ण योजना तथा बिम्बवैविध्य के द्वारा कवि राजधानी सूर्यपुर का रोचक कवित्वपूर्ण चित्र अंकित करने में समर्थ हुआ है। द्वितीय सर्ग मे शिवादेवी परम्परागत चौदह स्वप्न देखती है। समुद्र विजय स्वप्नफल बतलाते हैं कि इन स्वप्नों के दर्शन से तुम्हें प्रतापी पुत्र प्राप्त होगा, जो अपने भुजबल मे चारो दिशाओं को जीत कर चौदह भुवनों का अधिपति बनेगा। प्रभात-वर्णन नामक इस सर्ग के शेषांश में प्रभात का मार्मिक वर्णन हुआ है। तृतीय सर्ग मे ज्योतिषी उक्त स्वप्नफल की पुष्टि करते है; समय पर शिवा ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। चतुर्थ सर्ग में दिक्कुमारियाँ नवजात शिशु का सूतिकर्म करती है। मेरु-वर्णन नामक पंचम सर्ग में इन्द्र शिशु को जन्माभिषेक के लिये मेरु पर्वत पर ले जाता है। इसी प्रसग मे मेरु का वर्णन किया गया है। छठे सर्ग में शिशु के स्नात्रोत्सव का वर्णन है। सातवें सर्ग मे चोटियो से पुत्र-जन्म का समाचार पाकर समुद्रविजय आनन्दविभोर हो जाता है। वह पुत्रप्राप्ति के उपलक्ष्य में राज्य के समस्त बन्दियों को मुक्त कर देता है तथा जीववध पर प्रतिबन्ध लगा देता है। शिशु का नाम अरिष्टनेमि रखा गया! आठवे सर्ग में अरिष्टनेमि के शारीरिक सौन्दर्य एव शक्तिमत्ता का तथा परम्परागत छह ऋतुओं का हृदयग्राही वर्णन है। एक दिन नेमिनाथ ने पांचजन्य को कौतुक-वश इस वेग से फूँका कि तीनो लोक भय से कम्पित हो गये। और शक्ति-परीक्षा में कृष्ण को परास्त कर उन्हें आशंकित कर दिया कि कहीं यह मुझे

राज्यच्युत न कर दे, किन्तु उन्होंने कृष्ण को आश्वासन दिया कि मुझे सांसारिक विषयों में रुचि नहीं, तुम निर्भय होकर राज्य का उपभोग करो। नवें सर्ग में नेमिनाथ के माता-पिता के आग्रह से श्रीकृष्ण की पत्नियाँ, नाना युक्तियाँ देकर उन्हें वैवाहिक जीवन में प्रवृत्त करने का प्रयास करती हैं। उनका प्रमुख तर्क है कि मोक्ष का लक्ष्य सुख-प्राप्ति है, किन्तु यदि वह विषयों के भोग से ही मिल जाये, तो कष्टदायक तप की क्या आवश्यकता ? नेमिनाथ उनकी युक्तियों का दृढ़तापूर्वक खण्डन करते हैं। उनका कथन है कि मोक्ष-जन्य आनन्द तथा विषय-सुख में उतना ही अन्तर है जितना गाय तथा स्नुही के दूध में ! किन्तु माता के अत्यधिक आग्रह से वे, केवल उनकी इच्छापूर्ति के लिये, गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करना स्वीकार कर लेते हैं। उग्रसेन की लावण्यवती पुत्री राजीमती से उनका विवाह निश्चित होता है। दसवें सर्ग में नेमिनाथ वधूगृह को प्रस्थान करते हैं। यहीं उन्हें देखने को लालायित पुर-सुन्दरियो के सम्भ्रम तथा तज्जन्य चेष्टाओं का रोचक वर्णन किया गया है। वधूगृह में बारात के भोजन के लिए बंधे हुए मरणोन्मुख निरीह पशुओं का चीत्कार सुनकर उन्हें आत्मग्लानि होती है, और वे विवाह को बीच में ही छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर लेते है। ग्यारहवे सर्ग के पूर्वार्द्ध में अप्रत्याशित प्रत्याख्यान से अपमानित राजीमती का करुण विलाप है। मोह-सयम-युद्ध वर्णन नामक इस सर्ग के उत्तरार्द्ध में मोह और संयम के प्रतीकात्मक युद्ध का अतीव रोचक वर्णन है। पराजित होकर मोह नेमिनाथ के हृदय-दुर्ग को छोड़ देता है जिससे उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। बारहवें सर्ग में श्रीकृष्ण आदि यादव केवलज्ञानी प्रभु की वन्दना करने के लिये उज्जयन्त पर्वत पर जाते हैं। जिनेश्वर की देशना के प्रभाव से उनमें से कुछ दीक्षा ग्रहण कर लेते है तथा कुछ श्रावक धर्म स्वीकार करते हैं। जिनेन्द्र राजीमती को चरित्र रथ पर बैठाकर मोक्षपुरी भेज देते हैं और कुछ समय पश्चात् अपनी प्राणप्रिया से मिलने के लिये स्वयं भी परम पद को प्रस्थान करते है।

कथानक के निर्वाह की दृष्टि से नेमिनाथमहाकाव्य को सफल नहीं कहा जा सकता। कीर्तिराज का कथानक अत्यल्प है, किन्तु कवि ने उसे विविध वर्णनों, संवादों तथा स्तोत्रों से पुष्ट-पूरित कर बारह सर्गों के विस्तृत आलवाल में आरोपित किया है। यह विस्तार महाकाव्य की कलेवर-पूर्ति के लिये भले ही उपयुक्त हो, इससे कथावस्तु का विकासक्रम विशृंखलित हो गया है और कथा प्रवाह की सहजता नष्ट हो गई है। पग-पग पर प्रासंगिक-अप्रासंगिक वर्णनों के सेतु बाँध देने से काव्य की कथावस्तु रुक-रुककर मन्द गति से आगे बढ़ती है। वस्तुतः, कथानक की ओर कवि का अधिक ध्यान नहीं है। काव्य के अधिकांश में वर्णनों की ही भरमार है। कथावस्तु का सूक्ष्म संकेत करके कवि तुरन्त किसी-न-किसी वर्णन में जुट जाता है। कथानक की गत्यात्मकता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि तृतीय सर्ग में हुए पुत्रजन्म की सूचना समुद्र-विजय को सातवें सर्ग में मिलती है। मध्यवर्ती तीन सर्ग शिशु के सूतिकर्म, जन्माभिषेक आदि के विस्तृत वर्णनों पर व्यग्र कर दिये गये हैं। तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ यह जानना रोचक होगा कि रघुवंश में, द्वितीय सर्ग में जन्म लेकर रघु, चतुर्थ सर्ग में, दिग्विजय से लौट भी आता है। काव्य के अधिकांश भाग का मूलकथा के साथ सम्बन्ध बहुत सूक्ष्म है। इसलिये काव्य का कथानक लँगड़ाता हुआ ही चलता है। किन्तु यह स्मरणीय है कि तत्कालीन महाकाव्य-परिपाटी ही ऐसी थी कि मूलकथा के सफल विनियोग की अपेक्षा विषयान्तरों को पल्लवित करने में ही काव्यकला की सार्थकता मानी जाती थी। अतः कीर्तिराज को इसका सारा दोष देना न्याय्य नहीं। वस्तुतः, उन्होंने इन वर्णनों को अपनी बहुश्रुतता का क्रीडांगन न बनाकर तत्कालीन काव्यरूढ़ि के लौहपाश से बचने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है।

## नेमिनाथमहाकाव्य में प्रयुक्त कतिपय काव्यरूढ़ियाँ—

संस्कृत महाकाव्यों की रचना एक निश्चित ढर्रे पर हुई है जिससे उनमें अनेक शिल्पगत समानतायें दृष्टिगम्य होती हैं। शास्त्रीय मानदण्डों के निर्वाह

के अतिरिक्त उनमें कतिपय काव्यरूढ़ियों का मनोयोगपूर्वक पालन किया गया है। यहाँ हम नेमिनाथमहाकाव्य में प्रयुक्त दो रूढ़ियों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझते हैं, क्योंकि काव्य में इनका विशिष्ट स्थान है तथा ये, इन रूढ़ियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिये, रोचक सामग्री प्रस्तुत करती हैं। प्रथम रूढ़ि का सम्बन्ध प्रभातवर्णन से है। प्रभात-वर्णन की परम्परा कालिदास तथा उनके परवर्ती अनेक महाकाव्यों में उपलब्ध है। कालिदास का प्रभात वर्णन (रघुवंश, ५।६६–७५), आकार में छोटा होता हुआ भी, मार्मिकता में बेजोड़ है। माघ का प्रभात वर्णन बहुत विस्तृत है, यद्यपि प्रातःकाल का इस कोटि का अलंकृत वर्णन समूचे साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। अन्य काव्यों में प्रभात वर्णन के नाम पर पिष्टपेषण अधिक हुआ है। कीर्त्तिराज का यह वर्णन कुछ लम्बा अवश्य है, किन्तु वह यथार्थता तथा सरसता से परिपूर्ण है। माघ की भाँति उसने न तो दूर की कौड़ी फेंकी है और न वह ज्ञान-प्रदर्शन के फेर में पड़ा है। उसने तो, कुशल चित्रकार की तरह, अपनी ललित-प्रांजल शैली में प्रातःकालीन प्रकृति के मनोरम चित्र अंकित करके तत्कालीन वातावरण को सहज उजागर कर दिया है।[3] मागधों द्वारा राजस्तुति, हाथी के जागकर भी मस्ती के कारण आँखें न खोलने तथा करवट बदलकर शृंखलारव करने[4] और घोड़ों द्वारा नमक चाटने की रूढ़ि का भी इस प्रसंग में प्रयोग किया गया है। अपनी स्वाभाविकता तथा

---

३. ध्याने मनः स्व मुनिभिर्विलम्बितं, विलम्बितं कर्कशरोचिषा तमः।
सुष्वाप यस्मिन् कुमुदं प्रभासितं, प्रभासितं पङ्कजबांधवोपलैः ॥
नेमिनाथमहाकाव्य, २।४१

४. निद्रासुखं समनुभूय चिराय रात्रावुद्भूतशृङ्खलारवं परिवर्त्य पार्श्वम्।
प्राप्य प्रबोधमपि देव ! गजेन्द्र एष नोन्मीलयत्यलसनेत्रयुगं मदान्धः ॥
वही, २।५४

मार्मिकता के कारण कीर्त्तिराज का यह वर्णन संस्कृत-साहित्य के उत्तम प्रभात वर्णनों से होड़ कर सकता है।

नायक को देखने को उत्सुक पौर युवतियों की आकुलता तथा तज्जन्य चेष्टाओं का वर्णन करना सम्कृत-महाकाव्यों की एक अन्य बहुप्रचलित रूढ़ि है, जिसका प्रयोग नेमिनाथमहाकाव्य में भी हुआ है। बौद्ध कवि अश्वघोष से आरम्भ होकर कालिदास, माघ, श्रीहर्ष आदि से होती हुई यह रूढ़ि कतिपय जैन महाकाव्यों का अनिवार्य-सा अङ्ग बन गया है। अश्वघोष और कालिदास का यह वर्णन अपने सहज लावण्य से चमत्कृत है। माघ के वर्णन में, उनके अन्य अधिकांश वर्णनों के समान, विलासिता की प्रधानता है। कीर्त्तिराज का सम्भ्रमचित्रण यथार्थता से ओत-प्रोत है, जिससे पाठक के हृदय में पुरसुन्दरियों की त्वरा सहसा प्रतिबिम्बित हो जाती है। नारी के नीवीस्खलन अथवा अधोवस्त्र के गिरने का वर्णन, इस सन्दर्भ में, प्रायः सभी कवियों ने किया है। कालिदास ने अधीरता को नीवीस्खलन का कारण बता कर मर्यादा की रक्षा की है।[5] माघ ने इसका कोई कारण नही दिया जिससे उसका विलासी रूप अधिक मुखर हो गया है।[6] नग्न नारी को जनसमूह में प्रदर्शित करना जैन यति की पवित्रतावादी वृत्ति के प्रतिकूल था। अतः उसने इस रूढ़ि को काव्य में स्थान नही दिया। इसके विपरीत काव्य में उत्तरीय के गिरने का वर्णन किया गया है। शुद्ध नैतिकतावादी दृष्टि से तो शायद यह भी औचित्यपूर्ण नहीं किन्तु नीवीस्खलन की तुलना में यह अवश्य क्षम्य है, और कवि ने इसका जो कारण दिया है उससे तो पुरसुन्दरी पर कामुकता का दोष आरोपित ही नही किया जा सकता। कीर्त्तिराज की नायिका हाथ

---

५. जालांतरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्। रघुवंश, ७।९

६. अभिवीक्ष्य सामिकृतमण्डनं यतीः कररुद्धनीविगलदंशुकाः स्त्रियः। शिशुपालवध, १३।३१

के आर्द्र प्रसाधन के मिटने के भय से, गिरते उत्तरीय को नहीं पकड़ती, और उसी अवस्था में वह गवाक्ष की ओर दौड़ जाती है।[७]

## प्रकृति-चित्रण –

नेमिनाथमहाकाव्य की भावसमृद्धि तथा काव्यमत्ता का प्रमुख कारण इसका मनोरम प्रकृति-चित्रण है, जिसके अन्तर्गत कवि की काव्य प्रतिभा का भव्य उन्मेष हुआ है। कीर्त्तिराज का प्रकृति-वर्णन प्राकृतिक तथ्यों का कोरा आकलन नहीं अपितु सरसता से ओत-प्रोत तथा कविकल्पना से उद्भासित काव्यांश है। कवि ने, महाकाव्य के अन्य पक्षों की भाँति, प्रकृति-चित्रण में भी अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। कालिदासोत्तर महाकाव्यों में, प्रकृति के उद्दीपन पक्ष की पार्श्वभूमि में उक्ति-वैचित्र्य के द्वारा नायक-नायिकाओं के विलासिता-पूर्ण चित्र अंकित करने की परिपाटी है। प्रकृति के आलम्बन पक्ष के प्रति वाल्मीकि तथा कालिदास का-सा अनुराग अन्य संस्कृत-कवियों में दिखाई नहीं देता। कीर्त्तिराज ने यद्यपि विविध शैलियों में प्रकृति का चित्रण किया है, किन्तु प्रकृति के स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत करने में उसका मन अधिक रमा है और इनमें ही उसकी काव्यकला का उत्कृष्ट रूप व्यक्त हुआ है।

प्रकृति के आलम्बन पक्ष का चित्रण कीर्त्तिराज के सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिणाम है। वर्ण्य विषय के साथ तादात्म्य स्थापित करने के पश्चात् अंकित किये गये ये चित्र अद्भुत सजीवता से स्पन्दित हैं। हेमन्त में दिन क्रमशः छोटे होते जाते हैं और कुहासा उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। सुपरिचित तथा सुरुचिपूर्ण उपमानों से कवि ने इस हेमन्तकालीन तथ्य का ऐसा मार्मिक निरूपण किया है कि उपमित विषय तुरन्त प्रस्फुटित हो गया है।

---

७. काचित्कराद्रं प्रतिकर्मभंगभयेन हित्वा पतदुत्तरीयम्।
मञ्जीरवाचालपदारविन्दा द्रुतं गवाक्षाभिमुखं चचाल ॥
नेमिनाथमहाकाव्य, १०।१३

**उपययौ शनकैरिह लाघवं विनगणो खलराग इवानिशम् ।**
**वव्रुधिरे च तुषारसमृद्धयोऽनुसमयं सुजनप्रणया इव ॥ ८।४८**

पावस में दामिनी की दमक, वर्षा की अविराम फुहार तथा शीतल बयार मादक वातावरण की सृष्टि करती हैं। पवन-झकोरे खाकर मेघमाला मधुर-मन्द्र गर्जना करती हुई गगनांगन में घूमती फिरती है। कवि ने वर्षाकाल के इस सहज दृश्य को पुनः उपमा के द्वारा अङ्कित किया है, जिससे अभिव्यक्ति को स्पष्टता तथा सम्पन्नता मिली है।

**क्षरदभ्रजला कलगर्जिता सचपला चपलानिलनोदिता ।**
**दिवि चचाल नवाम्बुदमण्डली गजघटेव मनोभवभूपतेः ॥ ८।३८**

कवि की इस निरीक्षण शक्ति तथा ग्रहणशीलता के कारण शरत् के समूचे गुण प्रस्तुत पद्य में साकार हो गये है।

**आपः प्रसेदुः कलमा विपेचुर्हंसाश्चुकूजुर्जहसुः कजानि ।**
**सम्भूय सानन्दमिवावतेरुः शरद्गुणाः सर्वजलाशयेषु ॥ ८।५२**

नेमिनाथमहाकाव्य के प्रकृति-चित्रण में कही-कही प्रकृति का संश्लिष्ट-स्वाभाविक रूप दृष्टिगत होता है। इस श्लेषोपमा मे शरत् की महत्त्वपूर्ण विशेषतायें अनायास उजागर हो गयी है।

**रसविमुक्तविलोलपयोधरा हसितकाशलसत्पलितांकिता ।**
**क्षरत-पवित्रम-शालिकणद्विजा जयति कापि शरज्जरती क्षितौ ॥८।४३**

नेमिनाथमहाकाव्य में पशु प्रकृति का भी अभिराम चित्रण हुआ है। यह, एक ओर, कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का साक्षी है और दूसरी ओर उसके पशु-जगत् की चेष्टाओ के गहन अध्ययन को व्यक्त करता है। हाथी का यह स्वभाव है कि वह रात भर गहरी नीद सोता है। प्रातःकाल जागकर भी

वह अलसाई आँखों को मूँदे पड़ा रहता है, किन्तु बार-बार करवटें बदलकर पाँव की बेड़ी से शब्द करता है जिससे उसके जागने की सूचना गजपालों को मिल जाती है। निम्नोक्त स्वभावोक्ति में यह गज-प्रकृति चित्रित है।

**निद्रासुखं समनुभूय चिराय रात्रावुद्भूतशृङ्खलारवं परिवर्त्य पार्श्वम् ।**
**प्राप्य प्रबोधमपि देव ! गजेन्द्र एष नोन्मीलयत्यलसनेत्रयुगं मदान्धः ॥ २।५४**

ह्रासकालीन महाकाव्य की प्रवृत्ति के अनुसार कीर्तिराज ने प्रकृति के उद्दीपन रूप का पल्लवन भी किया है। उद्दीपन रूप में प्रकृति मानव की भावनाओं एवं मनोरोगों को झकझोर कर उसे अधीर बना देती है। प्रस्तुत पंक्तियों में स्मरपटहसदृश घनगर्जना विलासीजनों की कामाग्नि को प्रज्वलित कर रही है जिससे वे रणशूर, कामरण में पराजित होकर, अपनी प्राणवल्लभाओं की मनुहार करने को विवश हो जाते हैं।

**स्मरपतेः पटहानिव वारिदान् निनदतोऽथ निशम्य विलासिनः ।**
**समदना न्यपतन्नवकामिनीचरणयो रणयोगविदोऽपि हि ॥ ८।३७**

उद्दीपन पक्ष के इस वर्णन में प्रकृति पृष्ठभूमि में चली गयी है और प्रेमी युगलों का भोग-विलास प्रमुख हो उठा है, किन्तु इसकी गणना उद्दीपन के अन्तर्गत ही की जायेगी।

**प्रियकरः कठिनस्तनकुम्भयोः प्रियकरः सरसार्द्रवपल्लवैः ।**
**प्रियतमां समवीजयदाकुलां नवरतां वरतान्तलतागृहे ॥ ८।२३**

नेमिनाथमहाकाव्य में प्रकृति का मानवीकरण भी हुआ है। प्रकृति पर मानवीय भावनाओं तथा कार्यकलापों का आरोप करने से उसकी जड़ता समाप्त हो जाती है, उसमें प्राणों का स्पन्दन हो जाता और वह मानव की भाँति आचरण करने लगती है। प्रातःकाल, सूर्य के उदित होते ही, कमलिनी विकसित हो जाती है और भौंरे उसका रसपान करने लगते हैं। कवि ने

इसका चित्रण सूर्य पर नायक और भ्रमरों पर परपुरुष का आरोप करके किया है। अपनी प्रेयसी को परपुरुषों से चुम्बित देखकर सूर्य (पति) क्रोध से लाल हो गया है और कठोर पादप्रहार से उस व्यभिचारिणी को दण्डित कर रहा है।

**यत्र भ्रमद्भ्रमरचुम्बिताननामवेक्ष्य कोपादिव मूर्ध्नि पद्मिनीम्।**
**स्वप्रेयसीं लोहितमूर्तिमावहन् कठोरपादैर्निजघान तापनः ॥ २।४२**

निम्नलिखित पद्य में लताओं को प्रगल्भा नायिकाओं के रूप में चित्रित किया गया है, जो पुष्पवती होती हुई भी तरुणों के साथ बाह्य रति में लीन हैं।

**कोमलांग्यो लताकान्ताः प्रवृत्ता यस्य कानने।**
**पुष्पवत्योऽप्यहो चित्रं तरुणालिंगनं व्यधुः ॥ १३।१**

काव्य में कतिपय स्थलों पर प्रकृति का आदर्श रूप चित्रित है। ऐसे प्रसंगों में प्रकृति अपने स्वाभाविक गुण छोड़कर निराला आचरण करती है। जिन-जन्म के अवसर पर प्रकृति का यही रूप परिलक्षित होता है।

**सपदि दशदिशोऽत्रामेयनैर्मल्यमापुः**
**समजनि च समस्ते जीवलोके प्रकाशः।**
**अपि ववुरनुकूला वायवो रेणुवर्जं**
**विलयमगमवाप्तं दौस्थ्यदुःखं पृथिव्याम् ॥ ३।३९**

प्रकृति-चित्रण में कीर्तिराज ने परिगणनात्मक शैली को भी अपनाया है। प्रस्तुत पद्य में विभिन्न वृक्षों के नामों की गणना मात्र कर दी गयी है।

**सहकार एष खदिरोऽयमर्जुनोऽयमिमौ पलाशबकुलौ महोद्गतौ।**
**कुटजावमू सरल एष चम्पको मदिराक्षि शैलविपिने गवेष्यताम् ॥ १२।१३**

काव्य में एक स्थान पर प्रकृति स्वागतकर्त्री के रूप में प्रकट हुई है।

**रचयितुं द्रुतिथिसामतिथिक्रियां पथिकमाह्वयतीव सगौरवम् ।**
**कुसुमिता कलिताभ्रवणावली सुवयसां वयसां कलकूजितैः ॥८।१८**

इस प्रकार कीर्तिराज ने प्रकृति के विविध रूपों का चित्रण किया है। ह्रासकालीन संस्कृत महाकाव्यकारों की भाँति उन्होंने प्रकृति चित्रण में यमक की योजना की है, किन्तु उसका यमक न केवल दुरूहता से मुक्त है अपितु इससे प्रकृति-वर्णन की प्रभावशालिता में वृद्धि हुई है।

## सौन्दर्यचित्रण —

नेमिनाथमहाकाव्य में कतिपय पात्रों के कायिक सौन्दर्य का हृदयहारी चित्रण किया गया है, किन्तु कवि की कला की सम्पदा राजीमती तथा देवांगनाओं के चित्रों को ही मिली है। चिरप्रतिष्ठित परम्परा से हटकर किसी अभिनव प्रणाली की उद्भावना करना सम्भव नहीं था। इसीलिये अपने पात्रों के अङ्गों-प्रत्यङ्गों के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए कीर्तिराज ने नखशिखविधि का आश्रय लिया है, किन्तु उसके सादृश्य-विधान-कौशल के कारण उसके सभी सौन्दर्य-वर्णनों में बराबर रोचकता बनी रहती है। नवीन उपमानों की योजना करने से काव्यकला में प्रशंसनीय भाव-प्रेषणीयता आई है। निम्नोक्त पद्य में देवांगनाओं की जघनस्थली की तुलना कामदेव की आसनगद्दी से की गई है, जिससे उसकी पुष्टता तथा विस्तार का तुरन्त भास हो जाता है।

**वृता दुकूलेन सुकोमलेन विलग्नकांचीगुणजात्यरत्ना ।**
**बिभाति यासां जघनस्थली सा मनोभवस्यासनगल्लिकेव ॥६।४७**

इसी प्रकार राजीमती की जङ्घाओं को कदलीस्तम्भ तथा कामगज के आलान के रूप में चित्रित करके एक ओर उनकी सुडौलता तथा शीतलता

को व्यक्त किया गया है, दूसरी ओर उनकी वशीकरण-क्षमता का संकेत कर दिया गया है ।

**बभावूरुयुगं यस्याः कदलीस्तम्भकोमलम् ।**
**आलान इव दुर्दन्त-मीनकेतन-हस्तिनः ॥१.५५**

नेमिनाथमहाकाव्य में उपमान की अपेक्षा उपमेय अङ्गों का वैशिष्ट्य बताकर व्यतिरेक के द्वारा भी पात्रों का सौन्दर्य चित्रित किया गया है । नवयौवना राजीमती के लोकोत्तर मुख-सौन्दर्य को कवि ने इसी पद्धति से संकेतित किया है । उसकी मुख-माधुरी से परास्त होकर लावण्यनिधि चन्द्रमा मुँह छिपाने के लिये आकाश में मारा-मारा फिर रहा है ।

**यस्या वक्त्रेण जितः शङ्के लाघवं प्राप्य चन्द्रमाः ।**
**तूलवद् वायुनोत्क्षिप्तो बम्भ्रमीति नभस्तले ॥१।५२**

## रसयोजना—

परिवर्तनशील मनोरागों का यथातथ्य चित्रण करने में कीर्त्तिराज को दक्षता प्राप्त है । उसकी तूलिका का स्पर्श पाकर साधारण से साधारण प्रसंग भी रससिक्त हो उठा है । कवि की इस क्षमता के कारण धार्मिक वृत्त पर आधारित होता हुआ भी नेमिनाथमहाकाव्य पाठक को तीव्र रसानुभूति कराता है । शास्त्रीय नियम के अनुरूप इसमें, अंगी रस के रूप में, शृङ्गार का चित्रण हुआ है । करुण, रौद्र, शान्त आदि का भी यथोचित परिपाक हुआ है । ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत शृङ्गार के अनेक रमणीक चित्र अङ्कित हुए हैं । प्रकृति के उद्दीपन रूप से विचलित होकर मदिर मानस प्रेमी युगल कामकेलियों में खो गये हैं ।

**स्मरपतेः पटहानिव वारिदान् निनदतोऽथ निशम्य विलासिनः ।**
**समदना न्यपतन्नवकामिनीचरणयोः रणयोगविदोऽपि हि ॥८।३७**

यहाँ नायक की नायिका-विषयक रति स्थायीभाव है। नवकामिनी आलम्बन विभाव हैं। कामदुन्दुभि-तुल्य मेघगर्जना उद्दीपन विभाव है। रण-जेता नायक का मानभंजन के निमित्त नायिका के चरणों में गिरना अनुभाव है। मद, औत्सुक्य, आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन भावों, विभावों तथा अनुभावों से पुष्ट होकर नायक का स्थायी भाव शृंगार के रूप में निष्पन्न हुआ है।

निम्नोक्त पद्य में भी शृङ्गार रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। उपवन के मादक वातावरण में कामाकुल नायिका नए छैल पर रीझ गयी हो, तो इसमें आश्चर्य क्या ?

**उपवने पवनेरितपादपे नवतरं बत रंतुमना: परा ।**
**सकरुणा करुणावचये प्रियं प्रियतमा यतमानमवारयत् ॥८।२२**

नेमिनाथमहाकाव्य में शृङ्गार के पश्चात् करुण रस का स्थान है। अप्रत्याशित प्रत्याख्यान से शोकतप्त राजीमती के विलाप में करुण रस की सृष्टि हुई है। कुमारसम्भव के रतिविलाप की भांति यद्यपि इसमें उपालम्भ तथा क्रन्दन अधिक है तथापि यह हृदय की गहराई को छूने में समर्थ है।

**अथ भोजनरेन्द्रपुत्रिका प्रविमुक्ता प्रभुणा तपस्विनी ।**
**व्यलपद् गलदश्रुलोचना शिथिलांगा लुठिता महीतले ॥११।१**
**मयि कोऽय मधीश ! निष्ठुरो व्यवसायस्तव विश्ववत्सल ।**
**विरहय्य निजा: स्वधर्मिणीर्नहि तिष्ठन्ति विहंगमा अपि ॥११।२**
**अपराधमृते विहाय मां यदि तामाद्रियसे व्रतस्त्रियम् ।**
**बहुभिः पुरुषैः पुरा धृतां नहि तन्नाथ ! कुलोचितं तव ॥११।४**

रौद्र रस का परिपाक पाँचवें सर्ग में, इन्द्र के क्रोध के वर्णन में, हुआ है। सहसा सिंहासन हिलने से देवराज क्रोधोन्मत्त हो जाता है। उसकी कोप-जन्य चेष्टाओं में रौद्ररस के अनुभावों की भव्य अभिव्यक्ति हुई है। क्रोध से

उसके माथे पर तेवड़ पड़ जाते हैं, भौंहें साँप–सी भीषण हो जाती हैं, आंखें आग बरसाने लगती हैं और दान्त किटकिटा उठते हैं।

**ललाटपट्टं भ्रकुटीभयानकं भ्रुवौ भुजंगाविव दारुणाकृती ।**
**दृशः कराला ज्वलिताग्निकुण्डवच्चण्डार्यमाभं मुखमादधेऽसौ ॥**
**ददंश दन्तै रुषया हरिर्निजो रसेन शच्या अधराविवाधरौ ।**
**प्रस्फोरयामास करावितस्ततः क्रोधद्रुमस्योल्बणपल्लवाविव ॥५।३–४**

प्रतीकात्मक सम्राट् मोह के दूत तथा सयमराज के नीति निपुण मन्त्री विवेक की उक्तियों के अन्तर्गत, ग्यारहवें सर्ग में, वीर रस की कमनीय झांकी देखने को मिलती है।

**यदि शक्तिरिहास्ति ते प्रभोः प्रतिगृह्णातु तदा तु तान्यपि ।**
**परमेष विलोलजिह्वया कपटी भाषयते जगज्जनम् ॥११।४४**

मन्त्री विवेक का उत्साह यहाँ स्थायी भाव के रूप में वर्तमान है। मोहराज आलम्बन है। उसके दूत की कटूक्तियाँ उद्दीपन का काम करती हैं। मन्त्री का विपक्ष को चुनौती देना तथा मोह की वाचालता का मजाक उड़ाना अनुभाव है। धृति, गर्व, तर्क आदि सचारी भाव हैं। इस प्रकार यहां वीर रस के समूचे उपकरण विद्यमान हैं।

अन्य अधिकांश जैन काव्यों की भांति नेमिनाथमहाकाव्य का पर्यवसान शान्त रस में हुआ है। शान्त रस का आधारभूत तत्त्व(स्थायी भाव)निर्वेद है, जो काव्य-नायक के जीवन में आद्यन्त अनुस्यूत है। और अन्ततः वे केवलज्ञान के सोपान से ही परम पद की अट्टालिका में प्रवेश करते हैं। वधू-गृह के ग्लानिपूर्ण हिंसक दृश्य को देखकर तथा कृष्ण-पत्नियों की कामुकतापूर्ण युक्तियों को सुनकर उनकी वैराग्यशीलता का प्रबल होना स्वाभाविक था। इन सभी प्रसङ्गों में शान्त रस की यथेष्ट अभिव्यक्ति हुई है। नेमिप्रभु की देशना का प्रस्तुत अंश मनुष्य को विषय-आकर्षणों तथा सम्बन्धों की क्षणिकता का भान कराकर उसे मोक्ष की ओर उन्मुख करता है।

दिवसो यथा नहि विना दिनेश्वरं सुकृतं विना न च भवेत्तथा सुखम्।
तदवश्यमेव विबुधा सुखार्थिना सुकृतं सदैव करणीयमादरात् ॥१२।४४

विघटते स्वजनश्च सुहृज्जनो विघटते च वपुर्विभवोऽपि च।
विघटते नहि केवलमात्मनः सुकृतमत्र परत्र च संचितम् ।१२।४७

इस प्रकार कीर्तिराज ने काव्य में रसात्मक प्रसङ्गों के द्वारा पात्रों के मनोभावों को वाणी प्रदान की है तथा काव्य-सौन्दर्य को प्रस्फुटित किया है।

## चरित्रचित्रण

नेमिनाथ महाकाव्य के संक्षिप्त कथानक में पात्रों की संख्या भी सीमित है। कथानायक नेमिनाथ के अतिरिक्त उनके पिता समुद्रविजय, माता शिवा-देवी, राजीमती, उग्रसेन, प्रतीकात्मक सम्राट् मोह तथा संयम और दूत कैतव एवं मन्त्री ही काव्य के पात्र हैं। परन्तु इन सबकी चरित्रगत विशेषताओं का निरूपण करने में कवि को समान सफलता नहीं मिली है।

### नेमिनाथ

जिनेश्वर नेमिनाथ काव्य के नायक हैं। उनका चरित्र पौराणिक परिवेश में प्रस्तुत किया गया है जिससे उनके व्यक्तित्व के कतिपय पक्ष ही निरूपित हो सके हैं और उसमें कोई नवीनता भी नहीं है। वे देवोचित विभूति तथा शक्ति से सम्पन्न हैं। उनके धरा पर अवतीर्ण होते ही समुद्रविजय के समस्त शत्रु निस्तेज हो जाते हैं। दिक्कुमारियाँ उनका सूतिकर्म करती हैं तथा उनका जन्माभिषेक करने के लिए स्वयं सुरपति इन्द्र जिनगृह में आता है। पांचजन्य को फूंकना तथा शक्ति-परीक्षा में षोडशकलासम्पन्न श्रीकृष्ण को पराजित करना उनकी दिव्य शक्तिमत्ता के प्रमाण हैं।

नेमिनाथ का समूचा चरित्र विरक्ति के केन्द्र-बिन्दु के चारों ओर घूमता है। वे वीतराग नायक हैं। यौवन की मादक अवस्था में भी वैषयिक

सुख उन्हें अभिभूत नहीं कर पाते। कृष्ण पत्नियाँ नाना प्रलोभन तथा युक्तियाँ देकर उन्हें विवाह करने को प्रेरित करती हैं, किन्तु वे हिमालय की भाँति अडिग तथा अडोल रहते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि वैषयिक सुख परमार्थ के शत्रु हैं। उनसे आत्मा उसी प्रकार तृप्त नहीं होती जैसे जलराशि से सागर और काठ से अग्नि। उनके विचार में कामातुर मूढ़ ही धर्मोषधि को छोड़ कर नारी रूपी औषध का सेवन करता है। वास्तविक सुख ब्रह्मलोक में विद्यमान है।

हितं धर्मौषधं हित्वा मूढाः कामज्वरार्दिताः।
मुखप्रियमपथ्यन्तु सेवन्ते ललनौषधम् ॥६।२४

माता-पिता के प्रेम ने उन्हें उस सुख की प्राप्ति के मार्ग से एक पग ही हटाया था कि उनकी वैराग्यशीलता तुरन्त फुफकार उठती है। वधूगृह में भोजनार्थ वध्य पशुओं का आर्त्त क्रन्दन सुनकर उनका निर्वेद प्रबल हो जाता है और वे विवाह को बीच में ही छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं। उनकी साधना की परिणति शिवत्व-प्राप्ति में होती है। अदम्य काम-शत्रु को पराजित करना उनकी धीरोदात्तता की प्रतिष्ठा है।

## समुद्रविजय

यदुपति समुद्रविजय कथानायक के पिता हैं। उनमें समूचे राजोचित गुण विद्यमान हैं। वे रूपवान्, शक्तिशाली, ऐश्वर्यसम्पन्न तथा प्रखर मेधावी हैं। उनके गुण अलङ्करण मात्र नहीं हैं। वे व्यावहारिक जीवन में उनका उपयोग करते हैं। (शक्तेरनुगुणाः क्रियाः १।३६)।

समुद्रविजय तेजस्वी शासक हैं। उनके बन्दी के शब्दों में अग्नि तथा सूर्य का तेज भले ही शान्त हो जाए, उनका पराक्रम अप्रतिहत है।

विध्यायतेऽम्भसा वह्निः सूर्योऽब्देन पिधीयते।
न केनापि परं राजंस्त्वत्तेजः परिहीयते ॥७।२५

उनके सिंहासनारूढ़ होते ही उनके शत्रु म्लान हो जाते हैं। फलतः शत्रु-लक्ष्मी ने उनका इस प्रकार वरण किया जैसे नवयौवना बाला विवाहवेला में पति का। उनका राज्य पाशविक बल पर आश्रित नहीं है। वे केवल क्षमा को नपुंसकता और निर्बाध प्रचण्डता को अविवेक मानकर, इन दोनों के समन्वय के आधार पर ही, राज्य का सञ्चालन करते हैं (१।४३)। 'न खरो न भूयसा मृदु' उनकी नीति का मूलमन्त्र है। प्रशासन के चारु संचालन के लिए उन्होंने न्यायप्रिय तथा शास्त्रवेत्ता मन्त्रियों को नियुक्त किया (१।४७)। उनके स्मितकांत ओष्ठ मित्रों के लिए अक्षय कोश लुटाते हैं, तो उनकी भ्रूभंगिमा शत्रुओं पर वज्रपात करती है।

> **वज्रदण्डायते सोऽयं प्रत्यनीकमहीभुजाम् ।**
> **कल्पद्रुमायते कामं पादद्वोपजीविनाम् ॥१।५२**

प्रजाप्रेम समुद्रविजय के चरित्र का एक अन्य गुण है। यथोचित कर-व्यवस्था से उसने सहज ही प्रजा का विश्वास प्राप्त कर लिया।

> **आकाराय ललौ लोकाद् भागधेयं न तृष्णया ॥१।४५**

समुद्रविजय पुत्रवत्सल पिता हैं। पुत्रजन्म का समाचार सुनकर उनकी बाछें खिल जाती हैं। पुत्रप्राप्ति के उपलक्ष्य में वे मुक्तहस्त से धन वितरित करते हैं, बन्दियों को मुक्त कर देते हैं तथा जन्मोत्सव का ठाटदार आयोजन करते है, जो निरन्तर बारह दिन चलता है। समुद्रविजय अन्तस् से धार्मिक व्यक्ति हैं। उनका धर्म सर्वोपरि है। आर्हत धर्म उन्हें पुत्र, पत्नी, राज्य तथा प्राणों से भी अधिक प्रिय है (१।४२)।

इस प्रकार समुद्रविजय त्रिवर्गसाधन में रत हैं। इस सुव्यवस्था तथा न्यायपरायणता के कारण उनके राज्य में समय पर वर्षा होती है, पृथ्वी रत्न उपजाती है और प्रजा चिरजीवी है। और वे स्वयं राज्य को इस प्रकार निश्चिन्त होकर भोगते हैं जैसे कामी कामिनी की कंचन-काया को।

> **समृद्धमभजद्राज्यं स समस्तनयामलम् ।**
> **कामीव कामिनीकायं स समस्तनयामलम् ॥१।५४**

## राजीमती

राजीमती काव्य की दृढ़-निश्चयी सती नायिका है । वह शीलसम्पन्न तथा अतुल रूपवती है । उसे नेमिनाथ की पत्नी बनने का सौभाग्य मिलने लगा था, किन्तु क्रूर विधि ने, पलक झपकते ही, उसकी नवोदित आशाओं पर पानी फेर दिया । विवाह में भावी व्यापक हिंसा से उद्विग्न होकर नेमिनाथ दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। इस अकारण निराकरण से राजीमती स्तब्ध रह जाती है । बन्धुजनों के समझाने-बुझाने से उसके तप्त हृदय को सान्त्वना तो मिलती है, किन्तु उसका जीवनकोश रीत चुका है । वह मन से नेमिनाथ को सर्वस्व अर्पित कर चुकी थी, अतः उसे संसार में अन्य कुछ भी ग्राह्य नहीं । जीवन की सुख-सुविधाओं तथा प्रलोभनों का तृणवत् परित्याग कर वह तप का कंटीला मार्ग ग्रहण करती है और केवलज्ञानी नेमिप्रभु से पूर्व परम पद पाकर अद्भुत सौभाग्य प्राप्त करती है ।

## उग्रसेन

भोजपुत्र उग्रसेन का चरित्र मानवीय गुणों से भूषित है । वह उच्चकुल-प्रसूत तथा नीतिकुशल शासक है । वह शरणागतवत्सल, गुणरत्नों की निधि तथा कीर्त्तिलता का कानन है । लक्ष्मी तथा सरस्वती, अपना परम्परागत वैर छोड़कर, उसके पास एक-साथ रहती हैं । विपक्षी नृपगण उसके तेज से भीत होकर कन्याओं के उपहारों से उसका रोष शान्त करते हैं ।

## अन्य पात्र

शिवादेवी नेमिनाथ की माता है । काव्य में उसके चरित्र का विकास नहीं हुआ है । प्रतीकात्मक सम्राट् मोह तथा संयम राजनीतिकुशल शासकों की भाँति आचरण करते हैं । मोहराज दूत कैतव को भेजकर संयम-नृपति को नेमिनाथ का हृदय-दुर्ग छोड़ने का आदेश देता है । दूत पूर्ण निपुणता से अपने स्वामी का पक्ष प्रस्तुत करता है । संयमराज का मन्त्री विवेक दूत की उक्तियों का मुँह तोड़ उत्तर देता है ।

## भाषा

नेमिनाथमहाकाव्य की सफलता का अधिकांश श्रेय इसकी प्रसादपूर्ण तथा प्रांजल भाषा को है। विद्वत्ताप्रदर्शन, उक्तिवैचित्र्य, अलङ्करणप्रियता आदि समकालीन प्रवृत्तियों के प्रबल आकर्षण के समक्ष आत्म-समर्पण न करना कीर्त्तिराज की सुरुचि का द्योतक है। नेमिनाथमहाकाव्य की भाषा महाकाव्योचित गरिमा तथा प्राणवत्ता से मण्डित है। कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है किन्तु अनावश्यक अलङ्करण की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं है। इसीलिए उसके काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष का मनोरम समन्वय है। नेमिनाथकाव्य की भाषा की मुख्य विशेषता यह है कि वह भाव तथा परिस्थिति की अनुगामिनी है। फलतः वह प्रत्येक भाव अथवा परिस्थिति को तदनुकूल शब्दावली में व्यक्त करने में समर्थ है। भावानुकूल शब्दों के विवेकपूर्ण चयन तथा कुशल गुम्फन से ध्वनिसौन्दर्य की सृष्टि करने में कवि सिद्धहस्त है। अनुप्रास तथा यमक के विवेकपूर्ण प्रयोग से काव्य में मधुर झंकृति का समावेश हो गया है। प्रस्तुत पद्य में यह विशेषता देखी जा सकती है।

**गुरुणा च यत्र तरुणाऽगुरुणा वसुधा क्रियते सुरभिर्वसुधा।**
**कमनातुरंति रमणैकमना रमणी सुरस्य शुचिहारमणी ॥५।५१**

शृङ्गार आदि कोमल भावों के चित्रण की पदावली माखन-सी मृदुल, सौन्दर्य-सी सुन्दर तथा यौवन-सी मादक है। ऐसे प्रसङ्गों में अल्प समास वाली पदावली का प्रयोग हुआ है। नवें सर्ग में भाषा के ये गुण भरपूर मात्रा में विद्यमान हैं। युवा नेमिनाथ को विषय-भोगों की ओर आकृष्ट करने के लिये भाषा की सरलता के साथ कोमलता भी आवश्यक थी।

**विवाहय कुमारेन्द्र ! बालाश्चंचललोचनाः।**
**भुंक्ष्व भोगान् समं ताभिरप्सरोभिरिवामरः ॥६।१२**

**हेमाब्जगर्भगौरांगीं मृगाक्षीं कुलबालिकाम्।**
**ये नोपभुंजते लोका वेधसा वंचिता हि ते ॥६।१४**

यद्यपि समूचा काव्य प्रसाद गुण की माधुरी से ओत-प्रोत है, किन्तु सातवें सर्ग में प्रसाद का सर्वोत्तम रूप दीख पड़ता है। इसमें जिस सहज, सरल तथा सुबोध भाषा का प्रयोग हुआ है, उस पर साहित्यदर्पणकार की यह उक्ति 'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः' अक्षरशः चरितार्थ होती है।

**बभौ राज्ञः सभास्थानं नानाविच्छित्तिसुन्दरम् ।**
**प्रभोर्जन्ममहो द्रष्टुं स्वर्विमानमिवागतम् ॥७।१३**
**अनेकैः स्वार्थविच्छद्भिर्वनीपकावनीपकैः ।**
**राजमार्गस्तदाकीर्णः खगैरिव फलद्रुमः ॥७।१४**

किन्तु कठोर प्रसङ्गों में भाषा ओज से परिपूर्ण हो जाती है। ओज-व्यंजक शब्दों के द्वारा यथेष्ट वातावरण का निर्माण करके कवि ने भाव-व्यंजना को अतीव समर्थ बनाया है। पाँचवे सर्ग में, इन्द्र के क्रोध वर्णन में, जिस पदावली की योजना की गयी है, वह अपने वेग तथा नाद से हृदय में स्फूर्ति का संचार करती है। इस दृष्टि से यह पद्य विशेष दर्शनीय है।

**विपक्षपक्षक्षयबद्धकक्षः विद्युल्लतानामिव संचयं तत् ।**
**स्फुरत्स्फुलिंगं कुलिशं करालं ध्यात्वेति यावत्स जिघृक्षति स्म ॥५।६**

कीर्त्तिराज की भाषा में बिम्ब-निर्माण की पूर्ण क्षमता है। सम्भ्रम के चित्रण की भाषा त्वरा तथा वेग से पूर्ण है। अपने इस कौशल के कारण ही कवि, दसवें सर्ग में, पौर स्त्रियों की अधीरता तथा नायक को देखने की उत्सुकता को मूर्त रूप देने में समर्थ हुआ है। देवसभा के इस वर्णन में, इन्द्र के सहसा प्रयाण से उत्पन्न सभासदों की आकुलता, उपयुक्त शब्दावली के प्रयोग से, साकार हो गयी है।

**दृष्टिं ददाना सकलासु दिक्षु किमेतदित्याकुलितं ब्रुवाणा ।**
**उत्थानतो देवपतेरकस्मात् सर्वापि चुक्षोभ सभा सुधर्मा ॥५।१८**

नेमिनाथमहाकाव्य सूक्तियों और लोकोक्तियों का विशाल कोश है। ये एक ओर कवि के लोकज्ञान को व्यक्त करती हैं और दूसरी ओर

काव्य की प्रभावकारिता में वृद्धि करती हैं। कतिपय रोचक सूक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं।

१. ह्री प्रेम तद्यद्वशवर्तिचित्तः प्रत्येति दुःखं सुखरूपमेव ॥२।४३
२. उच्चैः स्थितिर्वा क्व भवेज्जडानाम् ॥६।१३
३. जनोऽभिनवे रमतेऽखिलः ॥८।३
४. काले रिपुमप्याश्रयेत्सुधी. ॥८।४६
५. शुद्धिर्न तपो विनात्मनः ॥११।२३
६. नहि कार्या हितदेशना जडे ॥११।४८
७. नहि धर्मकर्मणि सुधीर्विलम्बते ॥१२।२
८. भुक्तैर्यशो नियतमाप्यते ॥१२।७

इन बहुमूल्य गुणों से भूषित होती हुई भी नेमिनाथकाव्य की भाषा में कतिपन दोष हैं, जिनकी ओर संकेत न करना अन्यायपूर्ण होगा। काव्य में कुछ ऐसे स्थलों पर विकट समासान्त पदावली का प्रयोग किया गया है, जहाँ उसका कोई औचित्य नहीं है। युद्धादि के वर्णन में तो समासबहुला भाषा अभीष्ट वातावरण के निर्माण में सहायक होती है, किन्तु मेरुवर्णन के प्रसङ्ग में इसकी क्या सार्थकता है ?

**भित्तिप्रतिज्वलदनेकमनोज्ञरत्ननिर्यन्मयूखपटलीसततप्रकाशाः ।**
**द्वारेषु निर्मकरपुष्करिणीजलोर्मिमूर्छन्महमुषितयात्रिकगात्रघर्ताः ॥५।५२॥**

इसके अतिरिक्त कवि ने यत्र-तत्र छन्द पूर्ति के लिए अतिरिक्त पदों को ठूँस दिया है। 'स्वकान्तरक्ताः' के पश्चात् 'पतिव्रता' का (२।३६), 'शुक' के साथ 'वि' का (२।५८), 'मराल' के साथ 'खग' का (२।५६), 'विशारद' के साथ 'विशेषज्ञजन' का (११।१६) तथा 'वदन्ति' के साथ 'वाचम्' का (३।१८) का प्रयोग सर्वथा आवश्यक नहीं। इनसे एक ओर, इन स्थलों पर, छन्दप्रयोग में कवि की असमर्थता व्यक्त होती है, दूसरी ओर यहाँ वह काव्यदोष आ गया है, जो साहित्यशास्त्र में 'अधिक' नाम से ख्यात है।

फिर भी नेमिनाथमहाकाव्य की भाषा में निजी आकर्षण है। वह प्रसंगानुकूल, प्रौढ़,, सहज तथा प्रांजल है।

## विद्वत्ताप्रदर्शन

भारवि ने जिन काव्यात्मक कलाबाजियों का आरम्भ किया था, उनके अदम्य आकर्षण से बचना प्रत्येक कवि के लिये सम्भव नहीं था। शैली में अधिकतर कालिदास के पगचिह्नों पर चलते हुए भी कीर्त्तिराज ने, अन्तिम सर्ग में, चित्रकाव्य के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने तथा अपने पाण्डित्य की प्रतिष्ठा करने का साग्रह प्रयत्न किया है। सौभाग्यवश ऐसे पद्यों की संख्या अधिक नही है। सम्भवत. वे इनके द्वारा सूचित कर देना चाहते हैं कि मैं समवर्ती काव्य-शैली से अनभिज्ञ अथवा चित्रकाव्य-रचना में असमर्थ नहीं हूँ, किन्तु सुरुचि के कारण वह मुझे ग्राह्य नहीं है। आश्चर्य यह है कि नेमिनाथ-महाकाव्य में इस शाब्दी-क्रीड़ा की योजना केवलज्ञानी नेमिप्रभु की वन्दना के अन्तर्गत की गयी है। इस साहित्यिक जादूगरी में अपनी निपुणता का प्रदर्शन करने के लिये कवि ने भाषा का निर्मम उत्पीड़न किया है, जिससे इस प्रसग में वह दुरूहता से आक्रान्त हो गयी है।

कीर्त्तिराज का चित्रकाव्य बहुधा पादयमक की नीव पर आश्रित है, जिसमें समूचे चरण की आवृत्ति की जाती है; यद्यपि उसके अन्य रूपों का समावेश करने के प्रलोभन का भी वह संवरण नहीं कर सका। प्रस्तुत जिन-स्तुति का आधार पादयमक है।

> **पुण्य ! कोपचयदं न तावक पुण्यकोपचयदं न तावकम्।**
> **दर्शनं जिनप ! यावदीक्ष्यते तावदेव गदवुःस्थतावकम् ॥ १२।३३**

निम्नोक्त पद्य में एकाक्षरानुप्रास है। इसकी रचना केवल एक व्यंजन पर आश्रित है, यद्यपि इसमें तीन स्वर भी प्रयुक्त हुए हैं।

> **अतीतान्तेत एतां ते तन्तन्तु ततताततिम्।**
> **ऋततां तां तु तोतोत्तु तातोऽततां ततोन्तदुत् ॥ १२।३७**

यह पद्य और भी चमत्कारजनक है। इसमें केवल दो अक्षरों, ल और क, का प्रयोग किया गया है।

लुलल्लोलाकलाकेलिकीला केलिकलाकुलम्।
लोकालोकाकलंकालं कोकिलकुलालका ॥ १२।३६

प्रस्तुत पद्य की रचना अर्ध-प्रतिलोमविधि से हुई है। अतः, इसके पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध को, प्रारम्भ तथा अन्त से एक समान पढ़ा जा सकता है।

तुद मे ततदम्भत्वं त्वं भदन्ततमेद तु।
रक्ष तात ! विशामीश ! शमीशाबिततारक्ष ॥ १२।३८

इन दो पद्यों की पदावली में पूर्ण साम्य है, किन्तु पदयोजना तथा विग्रह के वैभिन्न्य के आधार पर इनसे दो स्वतन्त्र अर्थ निकलते हैं। साहित्य-शास्त्र की शब्दावली में इसे महायमक कहा जायेगा।

महामदं भवारागहरिं विग्रहहारिणम्।
प्रमोदजाततारेनं श्रेयस्करं महासकम् ॥
महाम दम्भवारागहरिं विग्रहहारिणम्।
प्रमोदजाततारेनं श्रेयस्कर महासकम् ॥ १२।४१–४२

इस कोटि के पद्य कवि के पाण्डित्य, रचनाकौशल तथा भाषाधिकार को सूचित अवश्य करते हैं, किन्तु इनसे रसचर्वणा में अवांछनीय बाधा आती है। टीका के बिना इनका वास्तविक अर्थ समझना प्रायः असम्भव है। संतोष यह है कि माघ, वस्तुपाल आदि की भाँति इन प्रहेलिकाओं का पूरे सर्ग में सन्निवेश न करके कीर्त्तिराज ने अपने पाठकों को बौद्धिक व्यायाम से बचा लिया है।

## अलंकारविधान

प्रकृति-चित्रण आदि के समान अलंकारों के प्रयोग में भी कीर्त्तिराज ने सुरुचि तथा सूझ-बूझ का परिचय दिया है। अलंकार भावाभिव्यक्ति में कितने सहायक हो सकते हैं, नेमिनाथमहाकाव्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

कीर्त्तिराज की इस सफलता का रहस्य यह है कि उसने अलकारों का सन्निवेश अपने ज्ञान-प्रदर्शन अथवा काव्य को अलंकृत करने मात्र के लिये नहीं अपितु भावों को स्पष्टता एवं सम्पन्नता प्रदान करने के लिये किया है। नेमिनाथ-महाकाव्य के अलंकारों का सौन्दर्य इसके अप्रस्तुतों पर आधारित है। उपयुक्त अप्रस्तुतों का चयन कवि की पैनी दृष्टि, अनुभव, मानव प्रकृति के ज्ञान, सवेदन-शीलता तथा सजगता पर निर्भर है। कीर्त्तिराज ने अप्रस्तुतों की खोज में अपना जाल दूर-दूर तक फेंका है और जीवन के विविध पक्षों से उपमान ग्रहण किये हैं। उसके अप्रस्तुत अधिकतर उपमा तथा उत्प्रेक्षा के रूप में प्रकट हुए है। उनसे वर्णित भाव अथवा विषय किस प्रकार स्पष्ट तथा समृद्ध हुए हैं, इसके दिग्दर्शन के लिये कतिपय उदाहरण आवश्यक है।

प्रभु के दर्शन से इन्द्र का क्रोध ऐसे शान्त हो गया जैसे अमृतपान से ज्वरपीड़ा और वर्षा से दावाग्नि (५।१४)। जहाँ ज्वरार्ति और दावाग्नि देवराज के क्रोध की प्रचण्डता का बोध कराती हैं वहाँ अमृतपान तथा वर्षा उपमानों से उसके सहसा शान्त होने का भाव स्पष्ट हो गया है। शिशु नेमि के सावले शरीर पर अङ्गराग ऐसे शोभा देता था जैसे काले बादलों से भरे आकाश में सान्ध्य राग (६।१८)। सुरों और असुरो के नेत्र अन्य विषयों को छोड़कर जिनेन्द्र के रूप पर इस प्रकार पडे जैसे भौरे कमलों पर गिरते हैं (६।२३)। नेमिप्रभु ने अपनी सुधा-शीतल वाणी से यादवों को इस प्रकार प्रबोध दिया जैसे चन्द्रमा कुमुदों को विकसित करता है (१०।३५)। कुमुदों को खिलते देखकर भली भाँति अनुमान किया जा सकता है कि यादवों को कैसे बोध मिला होगा! दो हिलती चंवरियों के बीच प्रभु का मुख हंसों के युगल के मध्य स्थित कमल के समान शोभित था (१२।२१)। प्रस्तुत उपमा बहुत उपयुक्त है। नेमि को अचानक वधूगृह से लौटते देखकर यादव उनके पीछे ऐसे दौड़े जैसे व्याध से भीत हरिण यूथ के नेता के पीछे भागते हैं। त्रस्त हरिणों के उपमान से यादवों की चिन्ता, आकुलता आदि तुरन्त व्यक्त हो जाती हैं।

> दृष्ट्वाथ नेमिं विनिवर्तमानं किमेतदित्याकुलं ववल्गः ।
> समन्वधावन् स्वजनाः समस्तास्त्रस्ताः कुरंगा इव यूथनाथम् ॥१०।३४

काव्य में इस प्रकार की अनेक मार्मिक उपमाएं दृष्टिगत होती हैं। भावाभिव्यक्ति के लिये कवि ने मूर्त तथा अमूर्त दोनों प्रकार के उपमानों का समान सफलता से प्रयोग किया है। नेमि के आदेश से सूत ने वधूगृह से रथ इस प्रकार मोड़ लिया जैसे योगी ज्ञान के बल से अपना मन बुरे विचार से हटा लेता है।

> सूतो रथं स्वामिनिदेशतोऽथ निवर्तयामास विवाहगेहात् ।
> यथा गुरुज्ञानबलेन मङ्क्षु दुर्ध्यानतो योगिजनो मनः स्वम् ॥१०।३३

यहाँ मूर्त रथ की तुलना अमूर्त मन से की गई है। निम्नाङ्कित पद्य में कवि ने अमूर्त भाव की अभिव्यक्ति के लिए मूर्त उपमान का आश्रय लिया है। राजा ने जिस-जिस पर कृपा-दृष्टि डाली उसका हर्ष-लक्ष्मी ने ऐसे आलिंगन किया जैसे कामातुर युवती अपने प्रेमी का।

> यं य प्रसन्नेन्दुमुख स राजा विलोकयामास दृशा स्वभृत्यम् ।
> शिश्लेष तं तं गुरुहर्षलक्ष्मीः कामातुरेव प्रमदा स्वकान्तम् ॥३।६

उत्प्रेक्षा के प्रयोग में भी कवि का यही कौशल दृष्टिगोचर होता है। भावपूर्ण सटीक अप्रस्तुतों से कवि के वर्णन चमत्कृत हो उठे हैं। छठे सर्ग में देवांगनाओं के तथा नवें सर्ग में राजीमती के सौन्दर्य-वर्णन के प्रसङ्ग में अनेक अनूठी उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग हुआ है। देवांगनाओं की पुष्ट जघनस्थली ऐसी लगती थी मानों कामदेव की आसनगद्दी हो। (६।४७) आसनगद्दी अप्रस्तुत से जघनस्थली की स्थूलता तथा विस्तार का भान सहज ही हो जाता है। शरत्काल में भौंरों से युक्त कमल ऐसे शोभित हुए मानों शरत् के सौंदर्य को देखने के लिये जलदेवियों ने अपने नेत्र उघाड़े हों (८।४१)। राजीमती के स्तन ऐसे लगते थे मानों उसके वक्ष को फोड़कर निकले हुए काम के दो कन्द हों (९।५४)। उसकी जंघाएं कामगज के आलान (बन्धन स्तम्भ) प्रतीत होते थे (९।५५)। आलान से उसकी जङ्घाओं की वशीकरण क्षमता स्पष्ट

द्योतित होती है। प्रस्तुत पद्य में वायु से हिलते कमल में 'नायिका के मुख से भय' की सम्भावना करने से उत्प्रेक्षा की भावपूर्ण अवतारणा हुई है।

**पवमानचंचलदलं जलाशये रवितेजसा स्फुटदिदं पयोरुहम् ।**
**परिशंक्यते बत मया तवाननात् कमलाक्षि ! बिभ्यदिव कम्पतेतराम् ॥२।१६**

प्रभात का निम्नोक्त वर्णन रूपक का परिधान पहन कर आया है। यहाँ रात्रि, तिमिर, दिशाओं तथा किरणों पर क्रमशः स्त्री, अंजन, पुत्री तथा जल का आरोप किया गया है।

**रात्रिस्त्रिया मुग्धतया तमोऽञ्जनैर्दिग्धानि काष्ठातनयामुखान्यथ ।**
**प्रक्षालयत्पूषमयूखपाथसा देव्या विभातं ददृशे स्वतातवत् ॥२।३०**

कृष्ण पत्नियाँ नेमिनाथ को जिन युक्तियों से वैवाहिक जीवन में प्रवृत्त करने का प्रयास करती हैं, उनमें से एक में दृष्टान्त की सुन्दर योजना हुई है।

**किं च पित्रोः सुखायैव प्रवर्तन्ते सुनन्दनाः ।**
**यथा सिन्धोः प्रमोदाय चन्द्रो व्योमावगाहते ॥६।३४**

शरद्वर्णन में मदमत्त वृषभ के आचरण की पुष्टि सामान्य उक्ति से करते हुए अर्थान्तरन्यास का पयोग किया गया है।

**मदोत्कटा विदार्य भूतल वृषा क्षिपन्ति यत्र मस्तके रजो निजे ।**
**अयुक्त-युक्त-कृत्य-संविचारणां . विदन्ति किं कदा मदान्धबुद्धयः ॥३.४४**

शिशु नेमिनाथ के स्नात्रोत्सव के निम्नोक्त पद्य में कारण तथा कार्य के भिन्न-भिन्न स्थानों पर होने के कारण असगति अलङ्कार है।

**गन्धसार-घनसार-विलेपं कन्यका विदधिरेऽथ तदङ्गे ।**
**कौतुकं महदिदं यदमूषामप्यनश्यदखिलो खलु तापः ॥४।४४**

समुद्र विजय के शौर्यवर्णन के अन्तर्गत प्रस्तुत पंक्तियों में शत्रुओं के वध का प्रकारान्तर से निरूपण किया गया है। अतः यहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार है।

**रणरात्रौ महीनाथ चन्द्रहासो विलोक्यते ।**
**वियुज्यते स्वकांताभ्यश्च चक्राकैरिवारिभिः ॥७ २७**

जिनेश्वर की लोकोत्तर विलक्षणता का चित्रण करते समय कवि की कल्पना अतिशयोक्ति के रूप में प्रकट हुई है ।

**यद्यर्कदुग्धं शुचिगोरसस्य प्राप्नोति साम्यं च विषं सुधायाः ।**
**देवान्तरं देव ! तदा त्वदीयां तुल्यां दधाति त्रिजगत्प्रदीप ॥५।३८**

समुद्रविजय की राजधानी सूर्यपुर के वर्णन में कवि ने परिसंख्या का भी आश्रय लिया है ।

**न मन्दोऽत्र जनः कोऽपि परं मंदो यदि ग्रहः ।**
**वियोगो नापि दम्पत्योर्वियोगस्तु परं वने ॥१।१७**

शब्दालङ्कारों में अनुप्रास तथा यमक के प्रति कवि का विशेष मोह है । नेमिनाथकाव्य में इनका स्वर, किसी-न-किसी रूप में, सर्वत्र ध्वनित रहता है । अन्त्यानुप्रास का एक रोचक उदाहरण देखिये ।

**जगज्जनानंदथुभवहेतुर्जगत्त्रयक्लेशसेतुः ।**
**जगत्प्रभुर्यादववंशकेतुर्जगत्पुनाति स्म स कम्बुकेतुः ॥३।३७**

यमक के प्रायः सभी भेद काव्य में प्रयुक्त हुए है । पादकयमक तथा महायमक का दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है । इन्हें छोड़कर कीर्त्तिराज ने यमक की ऐसी विवेकपूर्ण योजना की है कि उसमें क्लिष्टता नहीं आने पाई । आदियमक प्रस्तुत पद्य की श्रृंगारमाधुरी को वृद्धिगत करने में सहायक बना है ।

**वनितयानितया रमणं कयाप्यमलया मलयाचलमारुतः ।**
**धुतलतातत-तामरसोऽधिको नहि मतो हिमतो विधतोऽपि न । ८।२१**

ऋतु वर्णन वाला अष्टम सर्ग आद्यन्त यमक से भरपूर है ।

समुद्रविजय तथा शिवा के इस वार्तालाप में वृषभ, गौ, वृषांक तथा शङ्कर की भिन्नार्थ में योजना करने से वक्रोक्ति का सुन्दर प्रयोग हुआ है ।

**देव: प्रिये ! को वृषभोऽयि ! किं गौ: । नैव वृषांक: । किमु शंकरो, न ।**
**जिनो नु चक्रीति वधूवराभ्यां यो वक्रमुक्त: स मुदे जिनेन्द्र: ।।३।१२**

इनके अतिरिक्त सन्देह, विरोधाभास, विषम, व्यतिरेक, विभावना, निदर्शना, सहोक्ति, विषम आदि अलङ्कार भी नेमिनाथकाव्य के सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं।

## छन्दयोजना

भावव्यंजक छन्दों के प्रयोग में कीर्तिराज पूर्णतः सिद्धहस्त हैं। उनके काव्य में अनेक छन्दों की योजना की गयी है। प्रथम, सप्तम तथा नवम सर्ग में अनुष्टुप् की प्रधानता है। प्रथम सर्ग के अन्तिम दो पद्य मालिनी तथा उपजाति में हैं, सप्तम सर्ग के अन्त में मालिनी का प्रयोग हुआ है और नवम सर्ग का पैंतालीसवाँ तथा अन्तिम पद्य क्रमशः उपगीति तथा नन्दिनी में निबद्ध है। ग्यारहवें सर्ग में वैतालीय छन्द अपनाया गया है। सर्गान्त में उपजाति और मन्दाक्रान्ता का उपयोग किया गया है। तृतीय सर्ग की रचना उपजाति में हुई है। अन्तिम दो पद्यों में मालिनी का प्रयोग हुआ है। शेष सात सर्गों में कवि ने नाना वृत्तों के प्रयोग से अपना छन्दज्ञान प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। द्वितीय सर्ग में उपजाति (वंशस्थ + इन्द्रवंशा), इन्द्रवंशा, वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपजाति (इन्द्रवज्रा + उपेन्द्रवज्रा)' वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित तथा शालिनी, इन आठ छन्दों को प्रयुक्त किया गया है। चतुर्थ सर्ग की रचना नौ छन्दों में हुई है। इसमें अनुष्टुप् का प्राधान्य है। अन्य आठ छन्दों के नाम हैं—द्रुतविलम्बित, उपजाति (इन्द्रवज्रा + उपेन्द्रवज्रा), इन्द्रवज्रा, स्वागता, रथोद्धता, इन्द्रवंशा, उपजाति (इन्द्रवंशा + वंशस्थ) तथा शालिनी। पंचम सर्ग में सात छन्दों को अपनाया गया है—उपजाति (इन्द्रवज्रा + उपेन्द्रवज्रा), इन्द्रवज्रा, वंशस्थ, वसन्ततिलका, प्रमिताक्षरा, रथोद्धता तथा शार्दूलविक्रीडित। छठे सर्ग में पांच छन्द दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें उपजाति प्रमुख है। शेष चार छन्द हैं—उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, शार्दूलविक्रीडित तथा मालिनी।

अष्टम सर्ग में प्रयुक्त छन्दों की संख्या ग्यारह है। उनके नाम इस प्रकार हैं—द्रुतविलम्बित, इन्द्रवज्रा, विभावरी, उपजाति (वंशस्थ+इन्द्रवंशा), स्वागता, वैतालीय, नन्दिनी, तोटक, शालिनी, स्रग्धरा तथा औपच्छन्दसिक। इस सर्ग में नाना छन्दों का प्रयोग ऋतु-परिवर्तन से उदित विविध भावों को व्यक्त करने में पूर्णतया सक्षम है। बारहवें सर्ग में भी ग्यारह छन्द प्रयोग में लाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—नन्दिनी, उपजाति (इन्द्रवंशा+वंशस्थ), उपजाति (इन्द्रवज्रा+उपेन्द्रवज्रा), रथोद्धता, वियोगिनी, द्रुतविलम्बित, उपेन्द्रवज्रा, अनुष्टुप्, मालिनी, मन्दाक्रान्ता तथा आर्या। दसवें सर्ग की रचना में जिन चार छन्दों का आश्रय लिया गया है, वे इस प्रकार हैं—उपजाति (इन्द्रवज्रा+उपेन्द्रवज्रा), शार्दूलविक्रीडित, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा। सब मिलाकर नेमिनाथमहाकाव्य में २५ छन्द प्रयुक्त हुए हैं। इनमें उपजाति का प्रयोग सबसे अधिक है।

नेमिनाथमहाकाव्य की रचना कालिदास की परम्परा में हुई है। धार्मिक कथानक चुनकर भी कीर्त्तिराज अपनी कवित्व शक्ति, सुरुचि तथा सन्तुलित दृष्टिकोण के कारण साहित्य को एक ऐसा रोचक महाकाव्य दे सके हैं, जिसकी गणना संस्कृत के उत्तम काव्यों में की जा सकती है।

## नेमिनाथमहाकाव्य और नेमिनिर्वाण—

जैन साहित्य में तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवनवृत्त के दो मुख्य स्रोत हैं—जिनसेन प्रथम का हरिवंशपुराण (७८३ ई०) तथा गुणभद्र का उत्तर-पुराण (८९७ ई०)। इन उपजीव्य ग्रन्थों में नेमिचरित की प्रमुख रेखाओं के आधार पर,भिन्न-भिन्न शैली में,उनके जीवन-चित्र का निर्माण किया गया है। हरिवंश पुराण में यह प्रकरण बहुत विस्तृत है। जिनसेन ने नौ विशाल सर्गों में जिनेन्द्र के सम्पूर्ण चरित का मनोयोगपूर्वक निरूपण किया है। कवि की धीर-गम्भीर शैली, अलंकृत एवं प्रौढ़ भाषा तथा समर्थ कल्पना के कारण यह पौराणिक प्रसंग महाकाव्य का आभास देता है और उसकी भाँति तीव्र रसवत्ता का आस्वादन कराता है। उत्तरपुराण में नेमिचरित का सरसरा-सा वर्णन है।

जिस प्रकार गुणभद्र ने उसका प्रतिपादन किया है, उससे नेमिप्रभु का विवाह और प्रव्रज्या श्रीकृष्ण के कपटपूर्ण षड्यन्त्र के परिणाम प्रतीत होते हैं। माधव नेमि से अपना राज्य सुरक्षित रखने के लिये पहले विवाह द्वारा उनका तेज जर्जर करने का प्रयत्न करते हैं और फिर वध्य पशुओं के हृदयद्रावक चीत्कार से उनके वैराग्य को उभार कर उन्हें संसार से विरक्त कर देते हैं (७१।१४३-१४४,१५३-१६८)।

नेमिप्रभु के चरित के आधार पर जैन-संस्कृत-साहित्य में दो महाकाव्यों की रचना हुई है। कीर्त्तिराज के प्रस्तुत काव्य के अतिरिक्त वाग्भट का नेमिनिर्वाण (१२ वीं शताब्दी ई०) इस विषय पर आधारित एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति है। दोनों काव्यों में प्रमुख घटनाएं समान हैं, किन्तु उनके अलंकरण तथा प्रस्तुतीकरण में बहुत अन्तर है। वाग्भट ने कथावस्तु के स्वरूप और पल्लवन में बहुधा हरिवंशपुराण का अनुगमन किया है। हरिवंशपुराण के समान यहाँ भी जिन-जन्म से पूर्व समुद्रविजय के भवन मे रत्नों की वृष्टि होती है, शिवा के गर्भ में जयन्त का अवतरण होता है और वह परम्परागत स्वप्न देखती है। दोनों में स्वप्नो की संख्या (१६) तथा क्रम समान है। नेमिनिर्वाण में वर्णित शिशु नेमि के जन्माभिषेक के लिये देवताओं का आगमन, नेमिप्रभु की पूर्वभवावलि, तपश्चर्या, केवलज्ञानप्राप्ति, धर्मोपदेश तथा निर्वाणप्राप्ति आदि घटनाएं भी जिनसेन के विवरण पर आधारित है। किन्तु नेमिचरित का एक प्रसग ऐसा है, जिसमें वाग्भट तथा कीर्त्तिराज दोनों ने परम्परागत कथारूप में नयी उद्‌भावना की है। पौराणिक स्रोतों के अनुसार श्रीकृष्ण यह जान कर कि मेरी पत्नियों के साथ जलविहार करते समय नेमिकुमार के हृदय में काम का प्रथम अंकुर फूट चुका है, उनका सम्बन्ध भोजसुता राजीमती से निश्चित कर देते हैं। किन्तु नेमि भावी हिंसा से द्रवित होकर विवाह को अधर में छोड़ देते हैं और परमार्थसिद्धि की साधना में लीन हो जाते हैं (हरिवंशपुराण ५५।७१-७२,८४-१००, उत्तरपुराण ७१।१४३-१७०)। नेमिनाथ वीतराग होकर भी अपनी मातृतुल्य भाभी पर अनुरक्त हों, यह क्षुद्र आचरण उनके लिये असम्भाव्य है। इस विसंगति को दूर करने के लिये वाग्भट

ने प्रस्तुत सन्दर्भ को नया रूप दिया है, जो पौराणिक प्रसंग की अपेक्षा अधिक संगत है। उनके काव्य में (११।१-१०) स्वयं राजीमती रैवतकपर्वत पर युवा नेमिकुमार को देख कर उनके रूप पर मोहित हो जाती है और उसमें पूर्वराग का उदय होता है। उधर श्रीकृष्ण नेमिकुमार के माता-पिता के अनुरोध पर ही उग्रसेन से विवाह-प्रस्ताव करते हैं। कीर्त्तिराज इस परिवर्तन से भी सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्हें राजीमती-जैसी सती का साधारण नायिका की भाँति नायक को देखकर कामाकुल होना औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता। फलतः नेमिनाथमहाकाव्य में कृष्ण-पत्नियाँ विविध तर्कों तथा प्रलोभनों से नेमि को कामोन्मुख करने की चेष्टा करती हैं। उनके विफल होने पर माता शिवा उन्हें विवाह के लिये प्रेरित करती हैं, जिनके आग्रह को नेमिनाथ, निस्स्पृह होते हुए भी, अस्वीकार नहीं कर सके (६।४-४१)। नेमि की स्वीकृति से ही उनके विवाह का प्रबन्ध करना निस्सन्देह अधिक विचारपूर्ण तथा उनके उदात्त चरित्र की गरिमा के अनुकूल है। इससे राजीमती के शील पर भी आँच नहीं आती। कीर्त्तिराज ने प्रस्तुत सन्दर्भ के गठन में अवश्य ही अधिक कौशल का परिचय दिया है।

कथानक के गठन पर विचार करते हुए संकेत किया गया है कि नेमिनाथमहाकाव्य की कथावस्तु अधिक विस्तृत नहीं है, किन्तु कवि की अलंकारी वृत्ति ने उसे सजा-संवार कर बारह सर्गों का विस्तार दिया है। नेमिनिर्वाण काव्य में मूल कथा से संम्बन्धित घटनाएँ और भी कम हैं। सब मिला कर भी उसका कथानक नेमिनाथकाव्य की अपेक्षा छोटा माना जाएगा। पर वाग्भट ने उसमें एक ओर वस्तु-व्यापार के परम्परागत वर्णन ठूँस कर और दूसरी ओर पुराणवर्णित पूर्वभवावलि, तपश्चर्या, देशना आदि को अनावश्यक महत्त्व देकर उसे पन्द्रह सर्गों की विशाल काया प्रदान की है। ऐसा करके वे अपने स्रोत तथा महाकाव्य के बाह्य रूप के प्रति भले ही अधिक निष्ठावान् रहे हों, परन्तु सन्तुलन तथा स्वाभाविकता से दूर भटक गये हैं। वीतराग तीर्थंकर के जीवन से सम्बन्धित रचना में, पूरे छह सर्गों में, कुसुमावचय, जलक्रीडा, चन्द्रोदय, मधुपान आदि के शृंगारी वर्णनों की क्या सार्थकता है? इसी पर-

वशता के कारण कवि को इस शान्तपर्यवसायी काव्य में पानगोष्ठी और रतिक्रीड़ा का रंगीला चित्रण करने में भी कोई वैचित्र्य नहीं दिखाई देता। काव्य-रूढ़ियों का समावेश कीर्त्तिराज ने भी किया है, किन्तु उसने विवेक तथा संयम से काम लिया है। उसने मूल कथा से असम्बद्ध तथा अनावश्यक पूर्व-परिगणित प्रसंगों की तो पूर्ण उपेक्षा की है, नायक के पूर्वजन्म के वर्णन को भी काव्य में स्थान नहीं दिया है। उनके तप, समवसरण तथा धर्मोपदेश का भी चलता-सा उल्लेख किया है जिससे कथानक नेमिनिर्वाण-जैसे विस्तृत वर्णनो से मुक्त रहता है। अन्यत्र भी कीर्त्तिराज के वर्णन सन्तुलन की परिधि का उल्लघन नही करते। जहाँ वाग्भट ने तृतीय सर्ग में प्रातःकाल का वर्णन करके, अन्त में, जयन्त देव के शिवा के गर्भ में प्रवेश का केवल एक पद्य में उल्लेख किया है, वहाँ कीर्त्तिराज ने नेमिनिर्वाण के अप्सराओ के आगमन के प्रसंग को छोड़ कर उसके द्वितीय तथा तृतीय सर्गो में वर्णित स्वप्नदर्शन तथा प्रभात-वर्णन का केवल एक सर्ग में समाहार किया है। इसी प्रकार वाग्भट ने वसन्त-वर्णन पर पूरा एक सर्ग व्यय किया है जबकि कीर्त्तिराज ने अकेले आठवें सर्ग का उपयोग छहों ऋतुओं का रोचक चित्रण करने में किया है। नेमिनाथमहाकाव्य का विवाह-प्रसग वाग्भट से अधिक स्वाभाविक तथा विचारपूर्ण है, यह पहले कहा जा चुका है। कीर्त्तिराज मार्मिक प्रसगों की सृष्टि करने में निपुण हैं। नेमिनाथ के प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् ग्यारहवें सर्ग में, राजीमती के करुण विलाप के द्वारा कवि ने जहाँ उसके तप्त हृदय के उद्गारो की अभिव्यक्ति की है, वहाँ अपने मनोविज्ञान-कौशल का भी परिचय दिया है। वाग्भट ने यहाँ मौन साध कर एक ऐसा हृदय-स्पर्शी प्रसंग हाथ से गंवा दिया है, जिससे उसके काव्य की मार्मिकता में निस्सन्देह वृद्धि होती। परित्यक्ता नारी, चाहे वह कितनी भी गम्भीर तथा सहनशील हो, बिल्कुल ही होठ सी ले, यह कैसे सम्भव है? बारहवें सर्ग में कीर्त्तिराज ने चित्रकाव्य में अपने रचना-कौशल का प्रदर्शन किया है तो नेमिनिर्वाण का रैवतकवर्णन उसी प्रवृत्ति का द्योतक है। नेमिनाथमहाकाव्य में वस्तुव्यापार-वर्णनों के

अतिरिक्त जो अन्य वर्णन हैं, वे कथानक से अधिक दूर नहीं हैं जबकि वाग्भट के बहुत-से वर्णनों का कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं है।

नेमिनिर्वाण तथा नेमिनाथमहाकाव्य दोनों ही संस्कृत-महाकाव्य के ह्रासकाल की रचनाएँ हैं। उस युग के अन्य अधिकांश महाकाव्यों की तरह इनमें भी वे प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं, जिनका प्रवर्तन भारवि ने किया था और जिन्हें विकसित कर माघ ने साहित्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। वाग्भट पर यह प्रभाव भरपूर पड़ा है, कीर्त्तिराज अपने लिये एक समन्वित मार्ग निकालने में सफल हुए हैं। नेमिनिर्वाण में पूर्वोक्त शृंगारिक प्रसंगों का सन्निवेश तथा वस्तुव्यापार के अलंकृत वर्णन माघ के अतिशय प्रभाव का परिणाम है। माघ का प्रभाव वाग्भट की वर्णन-शैली पर भी पड़ा है। उनके वर्णन माघ की तरह ही कृत्रिम तथा दूरारूढ़ कल्पना से आक्रान्त हैं। वाग्भट और कीर्त्तिराज की कविता में क्या अन्तर है, इसका दिग्दर्शन तो तुलनात्मक रीति से ही सम्भव है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि कीर्तिराज के वर्णन स्वाभाविकता से परिपूर्ण हैं, कम-से-कम वे अधिक अलंकृत नही हैं; किन्तु वाग्भट ने अपने वर्णनों में बहुत दूर की कौड़ी फेंकी है। कतिपय उदाहरण अप्रासंगिक न होंगे।

भोर के समय चन्द्रमा की आभा मन्द पड़ जाती है, कुमुदिनी मुरझा जाती है किन्तु चकवे आनन्दविभोर हो उठते हैं। कीर्त्तिराज ने इस प्रातःकालीन दृश्य का सीधा-सादा वर्णन किया है, किन्तु वाग्भट की कल्पना है कि चाँद ने रात-भर कुमुदों के पात्रों में मदिरा-पान किया है जिससे वह नशे में चूर हो गया है और बेहोशी में नंगा होकर धड़ाम से अस्ताचल पर गिर पड़ा है।

**मन्ये मधूनि निशि कैरवपात्रे पीतानि शीतरुचिना करनालयन्त्रैः ।**
**नो चेत्कथं पतति निर्गलितांशुकोऽयं कोकैः सहर्षमिनवैरिव हस्यमानः ॥**(नै.नि.३।४)

नवोदित सूर्य की किरणें कुमुदिनियों पर फैली हुई ऐसी प्रतीत होती हैं मानों प्राणप्रिय चन्द्रमा के बिछोह की वेदना से फटे उनके हृदय से बहती रुधिर की धाराएँ हों।

तेजो जपाकुसुमकान्ति कुमुद्वतीषु विद्योतते निपतितं नवभानवीयम् ।
भर्तुः कलाकुलगृहस्य वियोगदुःखनिर्दारिताविव हृदो रुधिरप्रवाहः ॥
(ने. नि. ३।१३)

मेरु की नदियाँ कहाँ से निकलती हैं ? कवि का विश्वास है कि निकटवर्ती सूर्य की गर्मी के कारण मेरु का शरीर पसीने से तर हो गया है । पसीने की वे धाराएँ ही नदियों के रूप में परिणत होकर बह निकली हैं ।

अजस्रमासन्नसहस्रदीधितिप्रतापसंतापितखेदजन्मभिः ।
विसारिभिः स्वेदजलैरिवोज्ज्वलैर्विराजमानावयवं नदीशतैः ॥ (ने नि. ५।१७)

स्वर्ण-पर्वत पर एक ओर सफेद बादल सटे हुए हैं, दूसरी ओर काली घटाएँ । कवि को लगता है कि शंकर तथा विष्णु ने एक-साथ ब्रह्मा को आलिंगन में बाँध लिया है ।

पयोधरैरञ्चितमेकतः सितैः सितेतरैः काञ्चनकायमन्यतः ।
पितामहं धूर्जटिकैटभाहितप्रदत्तसंश्लेषमिवैकहेलया ॥ (ने नि. ५।१८)

सूर्य के अस्त होने पर तारो के प्रकट होने का रहस्य यह है कि सूर्य अस्ताचल की चोटी पर चढ कर जब पश्चिम-पयोधि में छलांग लगाता है तो जलकण उछल कर तारों के रूप में आकाश मे फैल जाते हैं ।

अपरावनीधरतटात्पयोनिधौ पततः सतो झगिति झम्पया रवेः ।
व्यरुचन्समुच्छलदतुच्छपाथसामिव बिन्दवो गगनसीम्नि तारकाः ॥ (ने.मि.६।१३)

कीर्त्तिराज की कविता का सांगोपांग मूल्यांकन पहले किया जा चुका है । दोनों की तुलना करने पर ज्ञात होगा कि वाग्भट की प्रवृत्ति अलंकरण की ओर अधिक है । कीर्त्तिराज के काव्य में सहजता है, जो काव्य की विभूति है और कीर्त्तिराज की श्रेष्ठता की द्योतक भी । कवित्व-शक्ति की दृष्टि से दोनों में शायद अधिक अन्तर नहीं । खेद यह है कि आधारभूत हरिवंशपुराण के प्रति बद्धता के कारण वाग्भट ने पुराण-वर्णित प्रसंगों को अधिक महत्त्व दिया है जिससे उसके काव्य में प्रचारात्मक स्वर अधिक मुखरित है ।

सत्यव्रत

# कीर्त्तिराजोपाध्यायप्रणीतं

# नेमिनाथ-महाकाव्यम्

## प्रथमः सर्गः

वन्दे तन्नेमिनाथस्य पदद्वन्द्वं श्रियां पदम् ।
नाथैरसेवि देवानां यद् भृंगैरिव पङ्कजम् ॥१॥
क्रूरग्रहैरनाक्रान्ताः सदा सर्वकलान्विताः ।
चिरमत्र विजेषीरन् गुरवो नूतनेन्दवः ॥२॥
नानाश्लेषरसप्रौढां हित्वा कान्तां मुनीश्वराः ।
ये चाहुस्तादृशीं वाचं वन्दनीयाः कथं न ते ॥३॥
यो दोषाकरमात्मानं ख्यापयन् विशदोऽपि सन् ।
विशदीकुरुते विश्वं तस्मै सभ्येन्दवे नमः ॥४॥
खल खल इवासारः पशुकल्पश्च नीरसः ।
त्यज्यते दूरतः प्राज्ञैः कांक्षद्भिः सौख्यमात्मनः ॥५॥
शास्त्रारम्भे नमस्कार्यावार्यानार्यावुभावपि ।
एतद्द्वितययोगे हि गुणागुणविवेचनम् ॥६॥
क्व श्रीनेमिजिनस्तोत्रं क्व कुण्ठेयं मतिर्मम ।
उत्पाटयितुमिच्छामि तर्जन्या मोहतो गिरिम् ॥७॥
परं प्राज्ञति मन्दोऽपि गुरुदेवप्रसादतः ।
शिक्षितो हि शुको जल्पेदपि तिर्यङ् नृभाषया ॥८॥
जडात्मकं प्रभोर्भक्तिर्मामुल्लापयतीह वा ।
सशब्दाम्भोदमालेव बलादपि कलापिनम् ॥९॥

लोकनाभ्या मध्यभागे जम्बूद्वीपोऽस्ति[1] विश्रुतः ।
गम्भीरो वर्तुलाकारो नाभिदेश इव स्त्रियाः ॥१०॥

यः षड्वर्षधरश्चित्रमनादिनिधनोऽपि सन् ।
लक्षयोजनमानोऽपि निःसंख्यैर्योजनैः श्रितः ॥११॥

पार्श्वतः सर्वतो यस्तु लवणोदधिनावृतः ।
आलीढः परिवेषेण वृत्तश्चन्द्र इवाबभौ ॥१२॥

तत्रास्ति भारतं वर्ष कोदण्डाकारधारकम् ।
स्वश्रियां गर्वतः शंके लीलया वक्रतां गतम् ॥१३॥

वैताढ्येन द्विधाभक्तं राजतेन रराज यत् ।
सीमन्तकेन काम्येन यथा सीमन्तिनीशिरः ॥१४॥

गङ्गा-सिन्धुनदीयोगात् षट्खण्डं यदजायत ।
सम्प्राप्तप्रसराभिस्तु को वा स्त्रीभिर्न खण्डितः ॥१५॥

तत्रासीत् परमश्रीकं नाम्ना सूर्यपुरं पुरम् ।
सर्वस्वमिव मेदिन्याः स्वभर्तेव कुलस्त्रियाः ॥१६॥

न मन्दोऽपि जनः कोऽपि परं मन्दो यदि ग्रहः ।
वियोगो नापि दम्पत्योर्वियोगस्तु परं वने ॥१७॥

वधोऽन्तरंगशत्रूणां यत्रान्येषामसम्भवात् ।
न्यायवद्भूपतेर्भावादुदयो धर्मचारिणाम् ॥१८॥

मन्दाक्षसंवृतांगोऽपि न मन्दाक्षकुरूपभाक् ।
सदापीडोऽपि यत्रासीद् विपीडो मानिनीजनः ॥१९॥

रत्नश्रेणिचिता यत्र पाण्डुरा दधिपिण्डतः ।
आवासा श्रीमतां रेजुर्हिमाद्रेर्दारका इव ॥२०॥

---

१. यशो. मा. जम्बुद्वीपोऽस्ति

भुजङ्गसङ्गनिर्विण्णा वक्षःस्खलितकञ्चुकाः ।
दृष्ट्यैव[2] घूर्णयन्त्यत्र सर्पिणीवत्पणांगनाः ॥२१॥

यत्र यूनां परीरम्भात् त्रुट्यद्धारा[3] वधूजनाः ।
स्मरं वर्द्धापयन्तीवोच्छलद्भिर्मौक्तिकाक्षतैः ॥२२॥

पावनं यौवनं यूनां यत्र क्षेत्रमिवाशुभत् ।
बहुधान्योपकृच्चारु-वल्लभारागकारणम् ॥२३॥

भोगि-पुण्यजन-श्रीदैः श्रितत्वाद्यत्परं पुरम् ।
भोगवत्यलकालङ्कासन्निपात इवाभवत् ॥२४॥

युवानो खलवद्यत्र नार्यालिङ्गनलालसाः ।
दूषयन्ति कलाकेलीमुपमातीतविग्रहैः[4] ॥२५॥

किंकिणीनाददम्भेन पुण्ये नॄन् प्रेरयन्निव ।
यत्राभितश्चलत्युच्चैर्विहाराणां ध्वजव्रजः ॥२६॥

राराजीत्यापणश्रेणिराराजद्वारगोपुरम् ।
नानावस्तूनि बिभ्राणा नानानन्दितनागरा ॥२७॥

दलैरिवैन्दवैर्दृब्धा हिमपिण्डमया इव ।
प्रासादा भ्रेजिरे राज्ञां यत्र स्फाटिकभित्तयः ॥२८॥

गम्भीरा बन्धुराकारा जललावण्यपूरिताः ।
वाप्यश्चकासिरे यत्र कान्तानामिव नाभयः ॥२९॥

विचित्रोपलविच्छित्तिर्वर्तुलाकारसंस्थितिः ।
प्राकारो रुरुचे यस्य भूदेव्या इव कुण्डलम् ॥ ३० ॥

कोमलांग्यो लताकान्ताः प्रवृत्ता यस्य कानने ।
पुष्पवत्योऽप्यहो चित्रं तरुणालिंगनं व्यधुः ॥ ३१ ॥

---

२. यशो. मा. दृष्ट्वैव ३. यशो. मा. त्रुटद्धारा ४. महि. केलि

दरिद्रैः शीतला रात्रिर्दुःखेन त्याज्यतेऽम्बरम् ।
नवोढा तरुणैर्यत्र दुःखेन त्याज्यतेऽम्बरम् ॥ ३२ ॥
समुद्रदयिता भाति गणिकेव यदन्तिके ।
भुजंगात्तरसास्वादा वेणीमोहितनागरा ॥ ३३ ॥
सा कापि रम्य-हर्म्यश्रीः शोभा वप्रस्य कापि सा ।
पुरस्य तस्य यां वीक्ष्य कः कम्पयति नो शिरः[५] ॥ ३४ ॥
यथार्थाख्योऽभवत्तत्र समुद्रविजयो नृपः ।
आसमुद्रं यतो वैरिविजयोऽनेन निर्ममे ॥ ३५ ॥
यो विद्विषां श्रिया सार्धं जग्राह पितुरासनम् ।
जहार चार्थिनां दौस्थ्यं पौरुषेण सह विद्विषाम् ॥ ३६ ॥
बाणभापितगोभर्त्ता यो वशेप्सितदर्शनः ।
रंगकुशलताहारी चण्डषण्ड इवाबभौ ॥ ३७ ॥
यमन्यराजराज्येभ्यः[६] प्रतिजग्मुः श्रियोऽखिलाः ।
प्रस्तावे पितृसद्मभ्यो भर्तारमिव कन्यकाः ॥ ३८ ॥
विभूतिसदृशी शक्तिः शक्तेरनुगुणा क्रिया ।
क्रियया[७] सदृशी ख्याति ख्यातेरनुगुणं यशः ॥ ३९ ॥
यशसा सदृशं रूपं रूपेण सदृशं वयः ।
परं वयोऽधिका बुद्धिरेतस्य समजायत ॥ ४० ॥
प्रतिपक्षैः सपक्षैश्च दुष्प्रेक्ष्यः प्रेक्ष्य एव सः ।
कौशिकैश्चक्रवाकैश्च चण्डरोचिरिवाभवत् ॥ ४१ ॥

---

५. वि. मा., यशो. मा. न कम्पयति कः शिरः

६. वि. मा., यशो. मा. यमन्य राजराजेभ्यः

७. महि., वि. मा. क्रियायाः

प्राणेभ्योऽपि धनेभ्योऽपि योषिद्भ्योऽप्यधिकं प्रियम् ।
सोऽमंस्त मेदिनीजानिर्विशुद्धं धर्ममार्हतम् ॥ ४२ ॥

क्लीबत्वं केवला क्षान्तिश्चण्डत्वमविवेकिता ।
द्वाभ्यामतः समेताभ्यां सोऽर्थसिद्धिममंस्त ॥ ४३ ॥

काले वर्षति पर्जन्यः सूते रत्नानि मेदिनी ।
प्रजाश्चिराय जीवन्ति तस्मिन् भुञ्जति भूतलम् ॥४४॥

न कार्पण्यात् परं स्थित्यै सोऽकार्षीद् धनसञ्चयम् ।
आकाराय ललौ लोकाद् भागधेयं न तृष्णया ॥४५॥

गोगोप्तृत्वात्[८] सुपर्वत्वाद् वधात्परबलस्य च ।
स्वामित्वाज्जयवाहिन्याः स देवेन्द्रतुलां दधौ ॥ ४६ ॥

न्यायबुद्धिमतोऽमात्याननन्नर्वाणिशिरोमणीन् ।
स संजग्राह भूभर्त्ता विनेयानिव सद्गुरुः ॥ ४७ ॥

स एकोऽपि जगज्जेता सेनालीढः किमुच्यते ।
केवलोऽपि बली सिंहः किं पुनर्व्यूढकंकटः ॥ ४८ ॥

तीव्ररश्माविवोद्दण्डे भूपेऽस्मिन्नुदिते सति ।
निस्तेजा ग्रहमालेव परास्थद् राजमण्डली ॥ ४९ ॥

तस्य नीतिमतो राज्ये विवाहे करपीडनम् ।
न पुनः पौरलोकेषु संजातं करपीडनम् ॥ ५० ॥

त्रिवर्गसाधने सैष परस्परमबाधया ।
प्रावृतस्त्रिजगत्सृष्टिविधौ कमलभूरिव ॥ ५१ ॥

वज्रदण्डायते सोऽयं प्रत्यनीकमहीभुजाम् ।
कल्पद्रुमायते कामं पादद्वन्द्वोपजीविनाम् ॥ ५२ ॥

---

८. महि., वि. मा. गोप्तृत्वाच्च

भूप स एव दक्षोऽभून्न्यायान्यायविचारणे ।
नीरक्षीरविवेके[६] हि हंस एव प्रशस्यते ॥ ५३ ॥

समृद्धमभजद्राज्यं ससमस्त-नयामलम् ।
कामीव कामिनीकायं ससम-स्तन-यामलम् ॥ ५४ ॥

रूपलावण्यसम्पन्ना शिवादेवीति नामतः ।
जयश्रीरिव मूर्तास्य बभूव सहचारिणी ॥ ५५ ॥

लेभे सतीषु या रेखां धीषु पण्डा मतिर्यथा ।
पुरोगता कुलस्त्रीषु वचःकला कलास्विव ॥ ५६ ॥

ययात्मीयैर्गुणग्रामैः शारदेन्दुसहोदरैः ।
पवित्रीक्रियते धात्री जलौघैरिव गङ्गया ॥ ५७ ॥

सुशीला सा महादेवी धर्मवान् स नराधिपः ।
तयोर्योगेऽनुरूपेऽभूत् प्रयासः सफलो विधेः ॥ ५८ ॥

अन्यदा सा शिवादेवी सुखशय्यागता निशि ।
किंचित् स्वपिति जागर्ति प्रदोषे पद्मिनी यथा ॥ ५९ ॥

अस्मिन्नवसरे च्युत्वा विमानादपराजितात् ।
द्वाविंशः श्रीजिनाधीशस्तस्याः कुक्षाववातरत् ॥ ६० ॥

परिहृत-वरजन्माहारकायप्रचारः
सुचिरममरलोके दिव्यभोगांश्च भुक्त्वा ।
प्रकटितशुभयोगे कार्त्तिकस्याद्यपक्षे
प्रभुरवतरति स्म द्वादशीवासतेय्याम् ॥६१॥

उदारताराग्रहपूगपूर्णा नभःस्थली तालतमालवर्णा ।
मुक्ताभृता शीतगुवल्लभाया रराज वैदूर्यकरण्डिकेव ॥६२॥

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये च्यवन-कल्याणकवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ।

---

६. यशो. मा. क्षीरनीरविवेके

## द्वितीय: सर्ग:

अथापतन्तं करिणं नभःस्थलात्पीनांगमुच्चं धवलं क्षरन्मदम् ।
प्राप्तोपमं निर्झरवारिधारिणा स्वप्ने शिवा प्रैक्षत सा हिमाद्रिणा ॥१॥

पीनं दधानं ककुदं समुन्नतं नीहार-मुक्ता-हर-हंस-पाण्डुरम् ।
सर्वांगपुष्टं वृषभं शुभाकृतिं व्यक्तं समुत्कीर्णमिवेन्दुमण्डलात्[1] ॥२॥

पिशंगवासाः किमयं नारायणः सुवर्णकायः किमयं विहंगमः ।
सविस्मयं तर्कितमेवमादितः सिंहं स्फुरत्कांचनचारुकेसरम् ॥३॥

संस्नाप्यमानां[2] सुभगाकृतिं श्रियं श्च्योतद्रसौ पीनकुचौ च बिभ्रतीम् ।
सुधाभुजामंगभवार्तिशान्तये न्यस्तौ विधात्रेह सुधाघटाविव ॥४॥

पुष्पस्रजं सौरभगौरवोज्ज्वलां प्रलम्बरोलम्बकदम्बकाकुलाम् ।
करम्बितां गारुडरत्नभंगिभिरिवावदातस्फटिकाक्षमालिकाम् ॥५॥

सुधामयं वर्तुलचन्द्रमण्डलं मध्यस्फुरच्छ्यामललक्षणेक्षणम् ।
चन्द्रोपल-स्थालमिवोल्लसत्पयो हरिन्मणोमण्डितमध्यमण्डलम्[3] ॥६॥

मातर्यथाहं निधिरुग्रतेजसां भावी तथा ते तनयस्तमस्तुदाम् ।
इति प्रजल्पन्तमिवाधिदीधितिं दिवाकरं व्योमतडागसारसम्[4] ॥७॥

इन्द्रध्वजं कैरव-पांसु-पाण्डुरं वर्णैर्विभक्तं कलकिंकिणीस्वरम् ।
देवावतारप्रमदादिवोच्चकैर्नृत्यन्तमल्पानिलधूतपल्लवैः ॥८॥

---

१. वि. मा., महि. समुत्कीर्णमिवेन्दुमण्डलम् ।

२. वि. मा. संस्नप्यमानां ।

३. वि. मा. , महि. हरिण्मणीमण्डितमध्यमण्डलम् ।

४. महि. तटाक ।

मणीवकैः सवलितैः[५] शितच्छदैः सशोभिकण्ठ कलश जलप्लुतम् ।
फणीन्द्रचूडामणिमण्डित[६]स्फटैर्व्याप्त सुधाकुण्डमिवामल लघु ।।९।।

सरः प्रफुल्लाम्बुजषण्डमण्डित पूर्ण समन्ततादतिशुद्धवारिणा ।
अगण्यकारुण्यरसेन पूरित मौनीश्वर चित्तमिव प्रसादयुक् ।।१०।।

अलब्धमध्योऽस्मि यथा जलैरह गुणैस्तथाय भविताभंकोऽम्ब हे ।
इतीव ससूचयितु समुद्यत निधि जलाना लुलदूर्मिसकुलम् ।।११।।

मनुष्यवाग्गोचरतीतवर्णन स्फुरद्विमान कल-किकिणी-क्वणम् ।
तीर्थाधिनाथ किल सम्प्रहेठितु समागत क्षोणितलेऽपराजितम् ।।१२।।

कि तारकाणां बत सन्निपातः, कि वा प्रदीप्रप्रभदीपराशिः ।
उत्पादयन्त मनसीति तर्क विचित्ररत्नोच्चयमिद्धरोकम् ।।१३।।

विकस्वरागारकणस्वरूप धूमध्वज धूसरधूममुक्तम् ।
बिभ्राणमुष्माणमतीव तीक्ष्ण शोणाश्मना राशिमिवाधिकान्तिम् ।।१४।।

दशार्हपृथ्वीपतिपट्टराज्ञी स्वप्नान् प्रधानानधिगम्य सामून् ।
मोहैकमुद्रां त्यजति स्म निद्रा भास्वन्मयूखानरविन्दिनीव ।।१५।।

उत्थाय देवी शयनीयतस्ततो जगाम भर्त्रा समधिष्ठिता भुवम् ।
विस्मेर-चामीकर-वारिजासना लक्ष्मीर्यथा राहुरिपोरुरःस्थलाम् ।।१६।।

आगच्छ पद्माक्षि । निषीद चात्र प्रयोजन कि प्रतिपादयस्व ।
तां वीक्ष्य मत्तेभगति सहर्षा गुर्वी जगादेति गिर नरेन्द्रः ।।१७।।

देहद्युतिद्योतितदिग्विभागा सुस्निग्धकेशाञ्जनवेणिदण्डा ।
स्नेहप्लुता सोज्ज्वलदीपिकेव रराज राज्ञः पुरतो निषण्णा ।।१८।।

---

५. यशो. मा. सविलितै. ।

६. महि. स्फुटै

स्वामिन्निदानीं सुखतल्पगाहं चतुर्दश स्वप्नवरान् ददर्श ।
तेषां विचारामृतमापिपासुर्युष्मन्मुखेन्दोरिति सा जजल्प ।।१९।।

स्वप्नानथोक्तान् प्रिययावगृह्य तानीहामविक्षन्नृपतिर्धियां निधिः ।
सम्प्रश्नवाक्यानि विनेयमालयोपढौकितानि प्रवरो गुरुर्यथा ।।२०।।

निजाननाम्भोरुहसौरभश्रिया प्रियास्यपद्मं प्रतिवासयन्नथ ।
स्वप्नार्थमर्घ्यं सुविचार्य धीरधीरिति स्फुटार्थां गिरमाददे नृपः ।।२१।।

चतुर्दशानां जगतामधीश्वरं चतुर्दशप्राणिगणाभयप्रदम् ।
चतुर्दशस्वप्नविलोकनात्प्रिये चतुर्दिगिज्य[7] प्रसविष्यसे सुतम् ।।२२।।

यो मुक्तसत्पोतवया दृढासनो दोर्दण्डशुण्डोद्धृतदुष्टविष्टरः ।
स्फुरन्मदाम्भः-कटकातिदुर्गमो हस्तीव भावी परवारणकोऽसौ ।।२३।।

अलंकरिष्णुर्ग्रसमग्रयादवानपत्यरत्नं शुभमेकमप्यदः ।
यथा वयःपावनयौवन[8] वयः सर्वाञ्छरीरावयवाञ्छरीरिणः ।।२४।।

अपश्चिमो ज्ञानवतां विपश्चितां धुरि स्थितस्त्यागवतां महीभृताम् ।
पूर्वाभिधेयो युधि शौर्यशालिनां भावी सुतस्ते प्रथमो यशस्विनाम् ।।२५।।

स्कन्धप्रबन्धाधिकशोभयान्वितो वित्रास्य कम्रान् सकलान्यगोपतीन् ।
अनन्यसामान्यनिजौजसा हठादाक्रम्य गां षण्ड इवैष भोक्ष्यते ।।२६।।

अद्यास्मदीयः किल यादवान्वयो बभूव भद्रे परमर्द्धिभाजनम् ।
सम्भाव्यमेयोन्नतमगले[9] कुले यतोऽवतारो महतां समीक्ष्यते[10] ।।२७।।

---

७. यशो. मा. चतुर्दिगीड्यं

८. वपुःपावनयौवनम् इति साधीयान् स्यात्

९. यशो. मा. , महि॰ मेयोन्नतिमंगले ·

१०. यशो. मा. , वि. मा. समीक्ष्यते

मुखाब्जहर्म्यौष्ठकपाटसम्पुटं संयोज्य खिन्नेव सदर्थसंगिनो ।
इत्याद्यु दित्वा रसनासनेऽथ सा सुखं विशश्राम नरेन्द्रभारती ॥२८॥

ततस्तथेति प्रतिपद्य हर्षिता गत्वा नरेन्द्रानुमतेर्निजास्पदम् ।
निनाय दुःस्वप्नभयेन जाग्रती राज्ञी निशां धर्मकथादिकौतुकैः ॥२९॥

रात्रिस्त्रिया मुग्धतया तमोऽञ्जनैर्दिग्धानि काष्ठातनयामुखान्यथ ।
प्रक्षालयत्पूषमयूखपाथसा देव्या विभातं ददृशे स्वतातवत् ॥३०॥

यत्रागते पूरुषपुंगवाः सदा विलासशय्याभ्य उदस्थुरुच्चकैः ।
अभ्यागतेषु प्रतिपत्तिवेदिनः खल्वौचितीं न स्खलयन्ति कुत्रचित् ॥३१॥

यत्रेन्दुरस्ताचलचूलिकाश्रयी बभूव यावद् गलदंशुमण्डलः[११] ।
म्लानानना तावदभूत्कुमुद्वती कुलांगनानां चरितं ह्यदः स्फुटम् ॥३२॥

यस्मिश्च राकापरिभोगकल्काद्युक्तं यदिन्दोः परिहीयते श्रीः ।
सप्तर्षिभिस्तत्किमिहापराद्धं प्रास्तप्रभास्तेऽपि यतो बभूवुः ॥३३॥

नभःस्थलं ग्लानविभोडुमण्डलं यत्रान्वकार्षीत्सरसः श्रियं श्रिया ।
निद्रायमाणापरिमाणकैरवावलीभिरालोडविनीलपाथसः ॥३४॥

यत्रारुणं केवलमिन्दुकान्तया संत्यज्यते चित्रभमम्बरं वरम् ।
शोकादिव प्राणपतेर्महत्तमादस्तम्प्रयातस्य तुषाररोचिषः ॥३५॥

संवेशनेन श्लथभूषणाम्बराः स्वकान्तरक्ताः शुचयः पतिव्रताः ।
आवव्रिरे यत्र ससम्भ्रमा वपुर्भानोः करस्पर्शमहाभयादिव ॥३६॥

जिनं च जैनाः सुगतं च सौगताः शिवं च शैवाः कपिलं च कापिलाः ।
यस्मिश्च दध्युर्मुखजाश्चतुर्भुजं कांचिन्न लोकायतिकास्तु देवताम्।३७।

यस्मिन् स्वचेतोऽभिमतार्थसिद्धये परेण संन्यस्तमुदग्रसाधनम् ।
निजप्रयोगैः प्रतिबाधितुं क्वचिद् ऐच्छन् धरित्रीपतयश्च तार्किकाः ॥३८

---

११. यशो. मा. गलदभ्रुमण्डलः ।

नक्षत्रमुक्ताकणमण्डिताम्बरा समुल्लसत्कैरवचारुलोचना ।
चन्द्रं परद्वीपविवर्तिनं पतिं यत्रानुयातीव सती विभावरी ॥३

यत्रोदितं वीक्ष्य रविं दरीषु संनिमील्य चक्षूंषि पतन्ति कौशिकाः ।
परश्रियं द्रष्टुमशक्नुवत्तमा भवन्त्यजस्रं लघवो ह्यवाङ्मुखाः ॥४

ध्याने मनः स्वं मुनिभिर्विलम्बितं विलम्बितं कर्कशरोचिषा तमः ।
सुष्वाप यस्मिन् कुमुदं प्रभासित प्रभासितं पंकजबान्धवोपलैः ॥४

यत्र भ्रमद्भ्रमरचुम्बिताननामवेक्ष्य कोपादिव मूर्ध्नि पद्मिनीम् ।
स्वप्रेयसीं लोहितमूर्तिमावहन् कठोरपादैर्निजघान तापनः ॥५

यस्मिन् सवित्रा नलिनी स्वपादैर्विमृद्यमानाप्यलमुल्ललास ।
ही प्रेम तद्यद्वशवर्त्तिचित्तः प्रत्येति दुःखं सुखरूपमेव ॥४

यस्मिन् विवस्वानुदयी महीरुहां नित्यं तदंशुप्रतिरोधिनामपि ।
छायामतुच्छां वितनोति सर्वतः सन्तो हि शत्रुष्वपि पथ्यकारिणः ॥१

तमस्ततेर्यत्र विडम्बकोऽप्यसौ रविर्न लेभे मुनिलोकतुल्यताम् ।
एकस्तु भावार-करम्बितात्मको भावाऽऽरहीनो विदितोऽपरो यतः ।

खेटातिचारप्रविशुद्धिकर्मणः[12] श्रेयस्तमोराशिविचारणक्षमाः ।
अनेकधा योगानलीनदृष्टयो यत्रर्षयो ज्योतिषका इवाबभुः ॥१

अमोदवत्कोकनदव्रजानां मरालवीनामबला नवीनाः ।
आमोदवत्कोकनदव्रजानां कुर्वन्ति यस्मिन् विशकल्यवर्तम्[13] ॥१

दिवामुखं कोकनितम्बिनीसुखं तादृग्विधं वीक्ष्य विचक्षणास्ततः ।
इत्यूचिरे चन्दनशीतला गिरस्तं मागधा बोधयितुं नरेश्वरम् ॥१

---

* एको रविर्भानां प्रभाणां वारः समूहस्तेन करम्बितो युक्तः । अ
मुनिलोकस्तु भावश्चासावरीणामारः समूहस्तेन हीनः ।

१२. यशो. मा., वि. मा. प्रविशुद्धिकर्मठाः

१३. यशो. मा., वि. मा. विशकल्पवर्तं—नालव्यसदृशध्वृत्तिम् इति टीका

प्रातः क्षणाद् गलितकान्तिरसौ शशांको
व्यक्तं व्यनक्ति कमलां चपलां नरेन्द्र ।
निद्रामतो जहिहि भोः ! भव जागरूको
देवं जिनं स्मर विधेहि विभातकृत्यम् ॥४९॥

वैवस्वतैः किरणबाणगणैः प्रभिन्नं देव !
त्वदीयरिपुचक्रमिवान्धकारम् ।
नंष्ट्वाधुना प्रविशति स्म दिगन्तमेतत्
कान्या गतिर्बलिनिपीडितकातरस्य ॥५०॥

सिन्दूर-दाडिम-जपा- कुसुमप्रभेण नव्येन देव ! रविणा तव तेजसा च ।
रक्तीकृते सपदि भूगतवस्तुजाते कैलास एव किल राजति कुंकुमाभः ।५१।

भर्तुः क्षये परिजनः क्षयमेति पूर्वं,
तस्योदयेऽभ्युदयमर्चति देव नूनम् ।
क्षीणौ प्रगेऽत्र रजनी-रजनीश्वरौ
यदुदगच्छतः स्म दिवसो दिवसाधिपश्च ॥५२॥

प्रत्यग्रजाग्रदरविन्दमरन्दबिन्दु-
ग्रासाग्रसग्रहणलोलुभ एष भृंगः ।
राजन् पतत्यतिरसान्नलिनीवनांके,
चक्षुर्यथा प्रणयिनीवदने प्रियस्य ॥५३॥

निद्रासुखं समनुभूय चिराय रात्रावुद्भूतशृङ्खलरवः[१४] परिवर्त्य पार्श्वम्।
प्राप्य प्रबोधमपि देव ! गजेन्द्र एष नोन्मीलयत्यलसनेत्रयुगं मदान्धः ॥५४॥

हेषारवं विदधतां दधतां महांसि
गत्यानिलं च जयतां तव मन्दुरायाम् ।
राजेन्द्र ! सैन्धवदलानि तुरंगमाणां
खण्डोज्ज्वलान्युपनयन्ति तुरगपालाः ॥५५॥

---

१४. यशो. मा. शृङ्खलरव

एतानि तानि तव सुन्दरमन्दिरस्य द्वारे तथा निखिलदेवनिकेतनेषु ।
प्राभातिकानि निनदन्ति परःशतानि तूर्याणि देव ! जयमंगलसूचकानि५६

सपदि देव ! रथांगविहंगमाः कथमपि व्यतिलंघितरात्रयः ।
समधिगम्य निजप्रमदा मुदा[15] विरहिताऽरहिता ननृतुस्तराम् ।।५७।।

शुकविना मरुदध्वनि लीयते तदनु चूतफलेषु निलीयते ।
जठरवह्निरतश्च विलीयते प्रमदया समदं सह लीयते ।।५८।।

नृपविशाल ! विशालसमानसाः पुरतडागतडागनिवासिनः ।
सवरला वरलाघवगामिनो वनमरालमरालखगा ययुः ।।५९।।

पक्वान्नभेदान् बहुधोपभुज्य देवाहरन्ते परमोदकानि ।
समुद्गिरन्त्योऽस्फुटवर्णवाचो धनाढ्यबाला इव पक्षिमालाः ।।६०।।

राजेन्द्र ! पूर्वाचलचूलिकास्थः सूर्योऽधुना विद्रुमकिंशुकाभः ।
पूर्वांगनाया इव भालदेशे काश्मीरलिप्तस्तिलकश्चकास्ति ।।६१।।

आकर्ण्यैवं मागधानां मनोज्ञाः वाचः पथ्यास्तथ्यवाग् यादवेन्द्रः ।
निद्रां हित्वा प्राप्य सद्यः प्रबोधं भ्रश्यन्माल्यं तल्पमुज्झाञ्चकार ।।६२।।

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये प्रभातवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ।

---

१५. वि. मा. मुदा

## तृतीयः सर्गः

प्राभातिकं कर्म समाप्य सम्यक् समाहितो भूमिपतिः सतन्त्रः ।
अथाश्रयत्पर्षदि सिंहपीठं मृगाधिपोऽद्राविव चारु शृंगम् ॥१॥

शीर्षोच्छ्रितनिवारितोष्मा सोऽधिष्ठिताष्टापदभद्रपीठः ।
जिगाय लक्ष्मीं सुरपादपाधः शक्रस्य हेमाद्रिशिलास्थितस्य ॥२॥

विलोलबालव्यजनान्तराले तस्य प्रसन्नं मुखमाबभासे ।
मरालबालद्वयमध्यवर्ति सौवर्णमुन्निद्रमिवाम्बुजातम् ॥३॥

काम्यं प्रकृत्यापि तदीयरूपं सिंहासनाश्रायि विशेषतोऽभूत् ।
मनोहरः किल इन्द्रनीलः पुनः सुवर्णोपरि संनिवेशी[१] ॥४॥

वन्द्यं तदीयं चरणारविन्दं प्रवर्त्तमान मणिपादपीठे ।
सामन्तभूपा युगपत्प्रणेमुर्विस्रं सिचूडामणिभिः शिरोभिः ॥५॥

यं यं प्रसन्नेन्दुमुखं स राजा विलोकयामास दृशा स्वभृत्यम् ।
शिश्लेष तं तं मुहुर्हर्षलक्ष्मीः कामातुरेव प्रमदा स्वकान्तम् ॥६॥

ताम्बूलवल्लीदलरंजितोष्ठी छन्दानुगा नीतिविनीतिपात्रम् ।
पवित्रवेषा चकमे प्रकामं नृपं पतित्वेन सभावधूस्तम् ॥७॥

माणिक्यमुक्ताफलदीप्रदेहस्तुषारचोक्षां[२]शुकभूषितांगः ।
सुदुर्विगाह्यैः कटकैरगम्यो दधौ तदानीं स हिमाद्रिलीलाम् ॥८॥

स्वयूथनागैरिव[३] यूथनाथस्तारासमूहैरिव शारदेन्दुः ।
सान्द्राम्रवृक्षैरिव कल्पवृक्षो मन्त्रिप्रधानैः स वृतो बभासे ॥९॥

---

१. यशो. मा. संन्यवेशि

२. यशो. मा., वि. मा. तुषारभूषांशुकभूषितांगः

३. यशो. मा., वि. मा. स्वयूथनाथैरिव

तज्ज्ञेन लोकेन विचार्यमाणां कमप्यनाख्येयरसं दधानाम् ।
कथासुधां श्रोत्रपुटैः सतर्षं पपौ स पूर्वैः क्षितिनायकानाम् ॥१०॥
अथ प्रभुः स्वप्नविचारविज्ञान नरान् समाहूयातुमयुंक्त भृत्यान् ।
आकारितास्तेऽप्युपतस्थिरे तं जयाशिषं भूमिभुजे ददानाः ॥११॥
देवः प्रिये-क्वे, वृषभोऽयि किं गोः, नैवं वृषांकः, किमु शंकरो, न ।
जिनो नु चक्रीति वधूवराभ्यां यो वक्रमुक्तः स मुदे जिनेन्द्रः ॥१२॥
साम्राज्यलक्ष्मीं बुभुजे य आदौ चारित्रलक्ष्मीं तदनु प्रपेदे ।
लेभे ततः केवलबोधलक्ष्मी लक्ष्मीं स वः पातु युगादिदेवः ॥१३॥
विध्वंसयन्तं तमसां समूह प्रकाशयन्तं परितोऽर्थतत्त्वम् ।
चित्ताम्बुजे शास्त्रमणि दधाना रात्राविवाढ्ये वणिजः प्रदीपम् ॥१४॥
स्नाताः प्रशस्ताः कृतयः कृतज्ञाः बलक्षचोक्षे वसने वसानाः ।
नृपाज्ञया स्वप्नविदो निषेदुस्ते भद्रपीठेषु पुरा धृतेषु ॥१५॥ युग्मम् ॥
चित्रैः पवित्रैः फलमाल्यवस्त्रैरपूपुजत्तानथ मेदिनीशः ।
नैमित्तिकाः प्रश्नकराय यस्मात् फलानि दृष्ट्वा फलमाविशन्ति ॥१६॥
अद्यार्धरात्रे महिषी गजादींश्चतुर्दश स्वप्नवरान् ददर्श ।
तेषां फलं कि प्रतिपादयध्व नैमित्तिकानेवमुवाच तान् सः ॥१७॥
विचारयामासुरमूनुदारान् स्वप्नान् मिथस्ते प्रथमं नृपोक्तान् ।
ततोऽगृणन्नेवममी विदग्धा विचार्य वाचं हि वदन्ति धीराः ॥१८॥
सश्रीक-कल्याणमया उदाराः स्वप्ना अमी देव ! विवृद्धिकाराः ।
एषां फल वक्तुमनीश्वराः स्मो जडा यदत्राङ्गिरसोऽपि वाचः ॥१९॥
तथापि शास्त्रानुसृतेरमीषां कंचिद्[४] विचारं प्रतिपादयामः ।
अन्धोऽपि किं साधु न याति मार्गं करावलम्बेन सलोचनस्य ॥२०॥
निशम्यतां यादवराज ! तस्मात् स्वप्नानिमान् पश्यति या किल स्त्री ।
ब्रह्मेव तत्कुक्षिसरोरुहान्तश्चक्री जिनो वावतरत्यवश्यम् ॥२१॥

---

४. यशो. भा., वि. भा. किंचिद्

शास्त्रानुसारान्मतिवैभवाच्च विभाव्यतेऽस्माभिरिदं नरेन्द्र ।
अवातरद् देव्युदरे जिनेन्द्रो यत्कल्पशाखीव सुमेरुकुञ्जे ॥२२॥
मुदा चतुष्षष्टिरमर्त्यनाथा यं भृत्यलोका इव सेवितारः ।
तत्रापरेषां सलिलान्नभाजां तपस्विनां का गणना नृपाणाम् ॥२३॥
नवस्वतीतेषु शुभावहेषु मासेषु सार्धाष्टमवासरेषु ।
देवी त्रिलोकीजनपूजनीयं पुत्रं पवित्रं जनयिष्य[5]तीश ॥२४॥
नैमित्तिकानां हृदयंगमास्ता निशम्य वाचो विमलाः क्षितीशः ।
गुरुप्रमोदाद् द्विगुणा भवन् स मुहुस्तथेति[6] स्म गिरं प्रवक्ति ॥२५॥
तेभ्यो बुधेभ्योऽथ नृपः स यावज्जीवं ददाति स्म धनं धनाढ्यः ।
वृक्षः सुराणामिव युग्मजेभ्यो गणो निधीनामिव चक्रभृद्भ्यः ॥२६॥
प्रीतास्ततः स्वप्नविदः प्रशस्यैराशीर्वचोभिर्नृपमभ्यनन्दन् ।
कुत्रापि किं नीतिविदः कुलीनाः स्वाचारमार्गं व्यतिलंघयन्ति ॥२७॥
हृष्टा विसृष्टाः क्षितिपेन शिष्टा नैमित्तिकास्ते ययुर्गृहाणि ।
उत्थाय भूपोऽपि मृगेन्द्रपीठादभ्यर्णवर्ती स बभूव देव्याः ॥२८॥
स्वप्नार्थमर्घ्यं कथितं च तज्ज्ञैः[7] प्राणप्रियायै रहसि क्षितीशः ।
न्यवेदयत् स्नेहविमुग्धचेता इष्टं यदिष्टाय निवेदनीयम् ॥२९॥
ततः प्रभृत्येव बभार गर्भं सा यादवाधीश्वरधर्मपत्नी ।
कल्पद्रुमं मन्दरकन्दरेव रत्नोच्चयं रोहणमेदिनीव ॥३०॥
आस्ते सुखेनाथ सुखेन शेते सुखेन तिष्ठत्ययते सुखेन ।
भुंक्ते च पथ्यं यदुराजजाया यत्नेन गर्भं परिपोषयन्ती ॥३१॥
लज्जावशाद् वक्ति न मेऽभिलाषं वस्तूनि कानि स्पृहयालुरेषा ।
सखीस्तदीया इति पृच्छति स्म मृदुः क्षितीशः परमादरेण ॥३२॥

---

५. वि. मा., महि. जनयिष्यत्यवश्यम् ।

६. यशो. मा., वि. मा. मृदुः

७. यशो. मा., वि. मा. कृतज्ञैः

यो दोहदोऽस्या उदपादि देव्यास्तूर्णं स पूर्णः परिपूर्ण एव[८] ।
कुत्रापि किं निर्मलपुण्यभाजां सम्पद्यते नात्र समीहितार्थः ॥३३॥

ये दुर्जया ये च पुरा न नेमुर्गर्भस्थिते स्वामिनि तेऽपि भूपाः ।
दशार्हराजं निषिषेविरेऽरं गुरुं विनेया इव भक्तिभाजः ॥३४॥

स्फुरत्प्रभामण्डलमण्डितांगः कालेऽथ देव्याः प्रकटीबभूव ।
पुत्रो विभक्तावयवः सुधर्मोपपादशय्यात[९] इवामरेन्द्रः ॥३५॥

जगज्जनानन्दथुमन्दहेतुर्जगत्त्रयक्लेशसमुद्रसेतुः ।
जगत्प्रभुर्यादववंशकेतुर्जगत्पुनाति स्म स कम्बुकेतुः ॥३६॥

अप्राप्तपूर्वं सुखमापुरस्मिन् क्षणे क्षणं नारकजन्तवोऽपि ।
महात्मनां जन्म जगत्पवित्रं केषां प्रमोदाय न जायतेति ॥३७॥

सपदि दश दिशोऽत्रामेयनैर्मल्यमापुः
समजनि च समस्ते जीवलोके प्रकाशः ।
अपि ववुरनुकूला वायवो रेणुवर्जं
विलयमगमदापददौस्थ्यदुःखं पृथिव्याम् ॥३८॥

प्रसृमर-किरणांगश्रीजिनादित्यकान्तं
मरकतमणिमुख्यामेयरत्नैरुपेतम् ।
उदयशिखरिलक्ष्मीमापदेतत्तदानीं
क्षितिपतिमुकुटस्य श्रीदशार्हस्य धाम ॥३९॥

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये जन्मकल्याणिकवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ।

---

८. वि. मा. एष:

९. 'सुधर्मोपपातशय्यातः' इति मूलपाठो निरर्थकत्वान् नोपात्तः' ।

## चतुर्थः सर्गः

सर्वासां दिक्कुमारीणां समकालं चकम्पिरे ।
आसनान्यथ सर्वत्र वृक्षा वाताहता इव ॥१॥
प्रयुक्तावधयो जन्माज्ञासिषुस्तास्ततः प्रभोः ।
भूपाल्य इव वृत्तान्तं नीवृतः प्रहितस्पशाः ॥२॥
हारपुष्पावलीरम्याः पीनस्तनमहाफलाः ।
दुकूलपल्लवाः कामवल्लिका इव जङ्गमाः ॥३॥
सहसा प्रमदोत्फुल्लनयना दामरोचिताः ।
सहसा विलसद्भूषा नयनादामगोचिताः ॥४॥
कर्णयोः कान्तिभिः पूर्णे दधाना मणिकुण्डले ।
सहागतौ तदास्यानि पुष्पवन्ताविवेक्षितुम् ॥५॥
दिग्देव्योऽपि रसालीनाः सभ्रमा अप्यभ्रमाः[1] ।
वामा अपि च नो वामा, भूषिता अप्यभूषिताः ॥६॥
भगवज्जन्मज मोदममान्तमिव चान्तरा ।
वहन्त्यो बहिरङ्गेऽपि प्रभामण्डलदम्भतः ॥७॥
ततश्च दिक्कुमार्योऽष्टावूर्ध्वलोकादुपाययुः ।
वृक्षाद् भृंग्य इवाम्भोजं शिवायाः सूतिकागृहम् ॥८॥ षड्भिः कुलकम्
ताभिः प्रदक्षिणीकृत्य जगन्नाथं च मातरम् ।
प्रणिपत्य च सानन्दमनिन्द्यमिदमूचिरे ॥९॥
जय त्वं देवदेवेन्द्रमानवेन्द्रस्तुतक्रम ।
नमस्तुभ्यं शिवे ! मातजगदानन्दनन्दने ॥१०॥
गौर्या लम्बोदरः पुत्रः श्रियोऽनंगस्तु नन्दनः ।
कयोपमीयसे मातः ! सर्वांगोत्कृष्टनन्दने ॥११॥

---

१. यशो. मा., वि. मा. अप्यविभ्रमाः

अज्ञानप्रसवा नित्यं वल्लिका त्रिदिवौकसाम् ।
सर्वज्ञप्रसवे ! मातः ! कथं तव तदोपमा ॥१२॥
स्त्रीजातिरस्तु निन्द्यापि श्लाघनीया जगत्त्रये ।
यतः सर्वगुणावासः प्रादुरासीज्जगद्गुरुः ॥१३॥
पुरुषेष्वेव एवाम्ब ! जातस्ते सूनुरुत्तमः ।
किं स्युः सुमेरुखण्डेषु सर्वे वृक्षाः सुरद्रुमाः ॥१४॥
न भेतव्यं त्वया देवि ! जन्म ज्ञात्वा जिनेशितुः ।
सूतिकर्म वयं कर्तुं दिक्कुमार्यः स्म आगता ॥१५॥
निवेद्यात्मानमेवं ताः परितः सूतिकागृहम् ।
जह्रु संवर्तवातेनायोजनादशुचीनणून् ॥१६॥
एताः संहृत्य संवर्तं तत्कालमिन्द्रजालवत् ।
निषेदुस्तत्र गायन्त्यो गुणग्रामान् जिनाम्बयोः ॥१७॥
वक्षःस्थललुलन्माल्या रत्नाभरणभूषिताः ।
भृशं तद्भावमापन्नाः साक्षादिव मरुल्लताः ॥१८॥
मेखलाकिंकिणीनादवाचालजघनस्थलाः ।
ता अधोलोकतोऽप्यष्टावरिष्ट समुपागमन् ॥१९॥ *
इमा अपि निवेद्य स्वं प्राग्वच्च[2] सौम्यदुर्दिनम् ।
ऊर्ध्वं विचक्रिरे मेघ दीपिका इव कज्जलम् ॥२०॥
वर्षन् गन्धाम्बु पाथोदो भूतले योजनावधौ ।
निन्ये शमं[3] रजस्तापौ तमोहिम इवांशुमान् ॥२१॥
पञ्चवर्णानि पुष्पाणि कुमार्यो ववृषुस्ततः ।
प्रफुल्लाः सुमनोवाट्यः पवनप्रेरिता इव ॥२२॥

---

* अरिष्टं सूतिकागृहम् इति टीका ।

२. वि. मा. प्राग्वत्

३. यशो. मा., वि. मा. समं

पतितैरपि पुष्पैस्तैर्भूतलं सुरभीकृतम्[४] ।
विपद्यप्युपकुर्वन्ति पूतात्मानो हि निश्चितम् ॥२३॥
उपरिष्टात्प्रसूनानां भ्राम्यद्भ्रमरमण्डलम् ।
अन्वकार्षीत्तदा तत्र नीलोत्तरपटश्रियम् ॥२४॥
प्रजगौ गुंजनव्याजाद् भ्रमराली प्रभोर्गुणान् ।
मधुच्छलेन पुष्पाली ताम्बूलं प्रददौ[५] किल ॥२५॥
दिक्चक्रं सुरभीचक्रे स्वसौरभ्यगुणेन तैः ।
नूनं सुमनसां लोके परार्थैकफला गुणाः ॥२६॥
पुष्पाम्बुवर्षमेतास्तु संवृत्य दिव्यशक्तितः ।
गायन्ति स्म गुणान् नेतुः स्वोचितस्थानमास्थिताः ॥२७॥
रुचक-पर्वत-पूर्वदिशः पुनर्वसुमिताः ककुभामथ कन्यकाः ।
यदुमहीपतिमन्दिरमागमन् जलनिधिं गिरितः सरितो यथा ॥२८॥
जिनममूर्जननीमपि पूर्ववद् विनुनुवुर्वचसा शिरसानमन् ।
स्तुतिनती विदधाति न कः सुधीः शुभवतो भवतोयधिमोचिनः ॥२९॥
तदनु ताः सुरनाथदिशि स्थिताः करगृहीतमनोरमदर्पणाः ।
भगवतो विपुलं विमलं यशः समुदिता मुदिता विदिता जगुः ॥३०॥
रुचकदक्षिणतः क्षणतस्ततो द्विसहिताः षड्मूः पुनराययुः ।
स्तनयुगेन घनेन विराजिताः कमलकोमलकोशविडम्बिना ॥३१॥
नतजिना रविसूनुदिशि स्थिताः करपयोजमहाकनकाकुलाः ।
मधुरसाधुरसा जगदुः प्रभोरविकल विकलकमिमाः यशः ॥३२॥
अष्टौ प्रतीच्या रुचकाचलस्य कृष्टाः प्रभोः पुण्यभरैः समेत्य ।
द्राक् सूतिसद्मन्यवतेरुरेताः प्रिया मृगाणामिव रज्जुबद्धाः ॥३३॥
स्वं ज्ञापयित्वा प्रणता निषेदुः प्रभोः प्रतीच्यां दिशि देवतास्ताः ।
हस्ताम्बुजातैर्धुतसालवृन्ता दिङ्गनागकान्ता इव लोलकर्णाः ॥३४॥

---

४. यशो. मा. सुभगीकृतं

५. यशो. मा., वि. मा. प्रददे

प्राप्तास्तथोदग्रुचकाद्रितो याः प्रकीर्णव्यग्रकराः प्रसन्नाः ।
दिश्युत्तरस्यामवतस्थिरे ता गृहीतकाया इव सिद्धयोऽष्टौ ॥३५॥
आगुर्विदिग्भ्यो रुचकस्य यास्तु सौन्दर्यवर्यावयवाश्चतस्रः ।
ता अप्यवन्दन्त[6] जिनं शिवां च हर्षप्रकर्षाद् द्विगुणीभवन्त्यः ॥३६॥
गीतान्यथो दीपधरा लपन्त्यः स्थिता विदिक्ष्वेव बभासिरेऽमूः ।
उपासितुं देवमुपेयुरासां कृत्वेव रूपं विदिशश्चतस्रः ॥३७॥
एयुस्तथा या रुचकाद्रिमध्यवासाश्चतस्रश्चतुराः कुमार्यः ।
नालं प्रभोश्छिच्छिदुराद्दतास्ता आत्मानमावेद्य जिनेन्द्रमातुः ॥३८॥
सूत्यालयात्त्रीणि पवित्ररम्भागृहाणि पूर्वोत्तरदक्षिणासु ।
आशासु निर्माय तदन्तराले पीठं चतुःशालमिमाश्च चक्रुः ॥३९॥
रात्न विनिर्यत्किरणाकुलं तत्पीठं विरेजे कदलीगृहान्तः ।
छन्नोऽभितः कोमलपद्मपत्रैः स्वच्छाम्भसीव[7] प्रतिबिम्बचन्द्रः ॥४०॥
आदाय नाथं करसम्पुटेन देवीं शिवां दत्तभुजावलम्बाः ।
एता अपाचीनकदल्यगारे निन्युः कुमार्यः प्रथमं विधिज्ञाः ॥४१॥
जिनं जिनाम्बां च निवेश्य पीठे संवाहनां तत्र विधाय तज्ज्ञाः ।
उद्वर्तनं दास्य इव व्यधुस्ता द्रव्यैरपूर्वैरनयोः शरीरे ॥४२॥
प्राचीनरम्भानिलयेऽथ नीत्वा तौ स्नापनीयौ शुचिना जलेन ।
संस्नापयामासुरिमा अमर्यः पुण्याधिकानाममरा हि भृत्याः ॥४३॥
गन्धसारघनसारविलेपं कन्यका विदधिरेऽथ तदंगे ।
कौतुकं महदिदं यदमूषामप्यनश्यदखिलो खलु तापः ॥४४॥
तीर्थनाथमथ तज्जनयित्रीमंशुकानि परिधाप्य मृदूनि ।
योजयन्ति विमलैः स्म कुमार्यो भूषणैरिव सुरद्रुमवल्लोः[8] ॥४५॥

---

६. महि. अप्यवन्तन्त

७. यशो. मा., वि. मा. स्वस्थाम्भसीव

८. वि. मा. सुरद्रुमवल्ल्यः

विश्वभूषणमवाप्य तैः प्रभुं भूषणैर्विरुरुचेऽधिकं श्रिया ।
निश्रितं हि परमर्द्धिहेतवे जायतेऽधिकगुणस्य संगमः ॥४६॥
दिव्यभूषणवती शिवाधिकं रोचते स्म रमणीयदर्शना ।
केवलापि सुभगा हरिन्मणी किं पुनः कनकसंगशालिनी ॥४७॥
देवता अथ शिवां सनन्दनां निन्यिरे धनददिक्‌निकेतनम् ।
धर्मशास्त्रसहितां मतिं गिरः सद्गुरोरिव विनेयमानसम् ॥४८॥
क्षुद्रादिमाद्रेश्चिरशाभियोगिकैर्गोशीर्षदारूण्युपढौकितान्यथ ।
दग्ध्वानले ताश्च तदीयभस्मनो रक्षीकृते पोट्टलिकां व्यधुस्तयोः ॥४९॥
आस्फालयन्त्योऽथ मिथोऽश्मगोलकौ विशालतालाविव चन्द्रनिर्मलौ ।
महीधरायुर्भविता भवानिति प्रोचुः कुमार्यः प्रभुकर्णकोटरे ॥५०॥
विश्वत्रयीत्राणपरायणस्य विश्वत्रयीमंगलकारिणोऽस्य ।
यन्मंगलाशीर्वचनं च रक्षा स स्वामिभक्तिक्रम एव तासाम् ॥५१॥
कर्पूरकृष्णागुरुधूपधूम्रे सूत्यालयेऽनल्पविभूषतल्पे ।
संस्थाप्य नाथं जननीं तथैताः प्रभोर्गुणान् गातुमितः प्रवृत्ताः ॥५२॥
वार्टिकर्तृपतिना यथाहृता सत्यबोधसहिता यथा क्रिया ।
श्रीर्यथा शुचिविवेकसंगता शक्रदिग् दिनकराश्रिता यथा ॥५३॥
नीलरत्नकलिता यथोर्मिका द्यौर्यथाभिनवमेघशालिनी ।
भृंगयुक् कनककेतकी यथा दृग्यथा विमलकज्जलांजिता ॥५४॥
अश्मगर्भमणिकायकान्तिना स्वामिनी सुतवरेण संयुता ।
निर्मलाखिलसतीशिरोमणी रोचते स्म जननी शिवा तथा ॥५५॥
॥ त्रिभिः कुलकम् ॥
षट्पञ्चाशद् दिक्कुमार्यः किलैवं भक्त्या युक्तास्तीर्थनाथस्य सम्यक् ।
सर्वं कृत्वा सूतिकृत्यं कृतज्ञा धन्यंमन्याः स्थानमात्मीयमीयुः ॥५६॥

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये कुमार्यागमवर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः ।

## पंचमः सर्गः

अथोर्ध्वलोके सहसा चकम्पे जिनप्रभावश्वसनप्रकम्पम् ।
आरूढसंक्रन्दनराजहंसं पीठं सुधर्मासरसीपयोजम् ॥१

आसाद्य सिंहासनकम्पनच्छलं प्रविश्य देहेऽथ रुषाभिसारिणी ।
क्षमाविवेकावहरद् बिडौजसश्छिद्रेषु नूनं प्रहरन्ति वैरिणः ॥२

ललाटपट्टं भृकुटीभयानकं भ्रुवौ भुजंगाविव दारुणाकृती ।
दृशः करालाः ज्वलिताग्निकुण्डवच्चण्डार्यमाभं मुखमादधेऽसकौ ॥३

ददंश दन्तै रुषया हरिर्निजौ रसेन शच्या अधराविवाधरौ ।
प्रस्फोरयामास[1] करावितस्ततः क्रोधद्रुमस्योल्बणपल्लवा विव ॥४

अंगानि सर्वाण्यपि वासवस्य विकारमीयुः समकालमेवम् ।
समागते हि व्यसने विवेकी धैर्यावलम्बं विरलः करोति ॥५

पराक्रमाक्रान्तसमस्तशत्रुः स मन्यमानस्त्रिजगत्तृणाय ।
दन्दह्यमानोऽथ रुषाग्निनान्तः क्षणं निदध्याविति वज्रपाणिः ॥६

कः शैलराजं शिरसा बिभित्सुः कर्णे मृगेन्द्रं ननु को जिघृक्षुः ।
जाज्वल्यमाने मम कोपवह्नावद्याहुतिः कः कृपणोऽत्र भावी ॥७॥

कोऽयं वराकः शतकोटि-कोटि-दीप्रप्रदीपे भविता पतंगः ।
योऽचालयन्मूढमतिर्मदान्धो मृगेन्द्रपीठं ननु मामकीनम् ॥८

विपक्षपक्षक्षयबद्धकक्षं विद्युल्लतानामिव संचयं तत् ।
स्फुरत्स्फुलिंगं कुलिशं करालं ध्यात्वेति यावत्स जिघृक्षति स्म ॥९

सेनापतिस्तावदमुं प्रणम्य मौलौ निबद्धाञ्जलिरित्युवाच ।
प्रवर्तमाने मयि सेवकेऽस्मिन् नाथैष ते किंविषयः प्रयासः ॥१०॥ कुलकम्

---

१. वि. मा. प्रस्फोटयामास

स्वस्वामिनं सेवकसाध्यकार्ये प्रवर्तमानंतु निरुद्यमो यः।
ऊर्ध्वंस्थितः[२] पश्यति कातराक्षो भृत्येन किं तेन विधेयमीश ॥११॥
यस्योपरि स्वामिपदा नु रुष्टा निदिश्यतां नाथ स सेवकाय।
यथाचिरमेव तव प्रसादाद् दिक्पालपूजां विदधामि तेन ॥१२॥
सेनाधिपेनेत्युदितः क्षणं स योगीव तस्थौ स्थिरचित्तवृत्तिः।
ततः प्रयुक्तावधिरुग्रधन्वा जन्म प्रभोः प्रैक्षत पूजनीयम् ॥१३॥
स दुःसहोऽपि[३] त्रिदशाधिपस्य क्रोधः शशाम प्रभुदर्शनेन।
पीयूषपानेन यथा ज्वरार्त्तिः पयोदसेकेन यथा दवाग्निः ॥१४॥
मोहादवज्ञा विहितातवार्यं क्षमस्व मेऽस्मादपराधमेकम्।
भवन्तमन्यश्च विराध्य यस्यात्त्वामेव सत्त्वाः शरणं प्रपन्नाः ॥१५॥
गृणन्निर्तीन्द्रो निजदुष्कृतं तच्चकार मिथ्या प्रभुसाक्षिकं सः।
निन्दन् स्वपापंगुरुपादमूले मुक्तोभवेत्तेन यतः शरीरी ॥१६॥
ससम्भ्रमोऽथो दधिपाण्डुकीर्त्तिर्मृगेन्द्रपीठादुदतिष्ठदिन्द्रः।
अमन्द्रचन्द्रातपदर्शनीयः प्राचीनशैलादिव शीतभानुः ॥१७॥
दृष्टिं ददाना सकलासु दिक्षु किमेतदित्याकुलं ब्रुवाणा।
उत्थानतो देवपतेरकस्माद् सर्वापि चुक्षोभ सभा सुधर्मा ॥१८॥
ततश्च सप्ताष्टपदानि शक्रस्तीर्थंकरस्याभिमुखं चचाल।
विलोकिते पूज्यपदारविन्दे विवेकिनां युज्यत एवमेव ॥१९॥
जगत्त्रयीनाथमदृष्टपूर्वी नन्तास्म्यहं जम्भजितोऽपि पूर्वम्।
इतीव हारः प्रचचाल सारोऽभिसर्पतोऽमुष्य हृदग्रलग्नः ॥२०॥
वामैककर्णाभरणांशुजालस्यूतोत्तरासंगविभूषितांसः।
संर्जुजिनेन्द्रं विधिना प्रणम्य प्रचक्रमे स्तोतुमितीन्द्र एषः ॥२१॥

---

२. यशो मा. महि., ऊर्ध्वः स्थितः

३. यशो. मा., वि. मा. सुदुःसहोऽपि

तुभ्यं नमः प्रणमदिन्द्रशिरःकिरीटज्योतिर्मरन्दमधुरक्रमपद्म देव ।
तुभ्यं नमः मथितदुग्धपयोधिसान्द्रस्वच्छोर्मिनिर्मलतरैः स्वगुणैरगाध ।२२।

ज्योतिर्भरापहतसूतिगृहान्तरिक्षमध्योल्लसद्गृहमणिग्रहपूगतेजाः ।
यत्रोदियाय सवितेव भवान् जिनेन्द्र श्लाघ्यः स यादवकुलोदयशैल एषः।२३

इत्यादि संस्तुत्य जिनं सुरेन्द्रो मृगेन्द्रपीठे निषसाद पश्चात् ।
घण्टां सुघोषां लघु ताडयेति पदातिनाथाय समादिदेश ॥२४॥

आपूरयन्तीं त्रिदिवं निनादैर्घण्टां स तां वादयति स्म देवः ।
स्नात्रं प्रभोर्ज्ञापयितुं सुरेभ्यः प्रोच्चैरकार्षीदितिघोषणां च ॥२५॥

ब्रवीमि किंचित्त्रिदशाः प्रधानाः भो संश्रृणुध्वं विहितावधानाः ।
जन्माभिषेकं जिनपस्य कर्तुं युष्मान् समाकारयतीन्द्र एषः ॥२६॥

श्रोत्राक्षरन्ध्रेषु तदीयवाक्यामृतप्रपाताद् द्युसदः समस्ताः ।
रोमोद्गमैरुच्छ्वसिताः समन्तात् कदम्बवृक्षा इव मेघसिक्ताः ॥२७॥

सुस्निग्धपारिप्लवलोचनाभिः समीक्ष्यमाणोऽथ सुरांगनाभिः ।
विमानमारुह्य हरिः सतन्त्रो जन्माभिषेकाय विभोः प्रतस्थे ॥२८॥

तमन्वगच्छन् परिवारभाजः सामानिकाद्या द्युसदः समस्ताः ।
भानुं मयूखा इव भानवीयाः स्तम्बेरमौघा इव यूथनाथम् ॥२९॥

विचित्रवर्णा मरुतां प्रचेलुर्विमानपूगा गगनांगणेऽथ ।
पयोमुचां भाद्रपदोन्नतानां सायन्तनानां श्रियमाहरन्तः ॥३०॥

कीर्णांशुजालैः कमनीयशोभैरतिप्रमाणैर्द्युसदां विमानैः ।
रोलम्बनीलच्छविखं तदानीं लेभे श्रियं पुष्पितकाननस्य ॥३१॥

गत्वा नृलोकेऽथ दशार्हधाम ददौ शिवायै परिवारभाजे ।
विद्यामवस्वापनिकां तुराषाड् रात्रौ नलिन्या इव शीतरश्मिः ॥३२॥

निवेश्य तत्र प्रतिरूपकेमादाय चिन्तामणिवज्जिनेन्द्रम् ।
शीघ्रं ततो दस्युरिवामरेन्द्रस्त मेरुशैलं प्रति संचचार ॥३३॥

अनर्घ्यरत्नप्रकरप्रसर्पत्प्रभाभरध्वस्ततमःप्रतानः[4] ।
यो भाति जाम्बूनदहृष्यकायः[5] क्षमांगनाया इव मौलिरत्नम् ॥३४॥
सतीरभाः पूगलवंगदारुणा गुहा यदीया अभुजंगदारुणाः ।
विलोक्य का मोहनपण्डिता वरं नामोहयद् भूषणमण्डिता वरम् ॥३५॥
उपत्यकायां प्रतिभाति यस्य वनं घनं कोकिलकण्ठकालम् ।
कटिप्रदेशादिव नीलमस्य स्रस्तं पृथिव्यां परिधानवस्त्रम् ॥३६॥
इमं प्रिये श्यामलतालशाल नीपं च पश्यामलतारपुष्पम् ।
इतो वनं पश्य लताभिरामं वापीश्च दृश्या मलतापहन्त्रीः ॥३७॥
एनोमलक्षालनपावनाम्भः सनातनं चैत्यमिदं जिनानाम् ।
प्राणप्रिये पश्य फलं गृहाण स्वनेत्रयोरायतयोर्युगस्य ॥३८॥
प्राणप्रियाया इति दर्शयन्तो नव नवं वस्तु सुभद्रशाले ।
विद्याधरा यस्य वने भ्रमन्ति नाम्ना प्रतीते किल भद्रशाले ॥३९॥
त्रिभिः कुलकम् ।
सश्रीककल्पद्रुपरम्परं परं यस्मिन् वनं चन्दननन्दनन्दनम्[6] ।
दृष्ट्वा स्वकान्त सहसाह साहसान्नना पुरोचे विनयान्नयान्न या ॥४०॥
उत्तुंगशाश्वतजिनायतनेषु नृत्यद्देवांगनाचरणनूपुरसान्द्रनादैः ।
आयातचारणमुनीन्द्रमसौम्यमूर्तीन् यः पृच्छतीव सुखसंयमकिंवदन्तीम्॥४१
कल्याण-कल्याणनिबद्धभूमिः कान्तार-कान्तारणिभिन्नसानुः ।
पानीय-पानीयनदाभिरामः सन्तान-सन्तानविवर्धको यः ॥४२॥
अभ्रान्तताभ्रो यदुपत्यकायां गम्भीरमुच्चैर्निनदन् पयोदः ।
सर्वेषु शैलेषु वसुन्धरायामस्यैव साम्राज्यमिव प्रवक्ति ॥४३॥

---

४. यशो. मा. वि. मा. प्रभाकर
५. यशो. मा., वि. मा. हृष्टकायः
६. यशो. मा., वि. मा. कोविदनन्दनन्दनम्

सुरा रतिं यत्र तु कामयन्ते रन्तुं च पत्न्या सह कामयन्ते ।
चैत्यानि बिम्बावलिमानवन्ति जैनानि नन्तृन् सममानवन्ति ॥४४॥

यद्गण्डशैलेषु विशालगण्डाः सार्धं स्वकान्तैरुपविश्य कान्तम् ।
गायन्त्यल किन्नरचंचलाक्ष्यो यासां पुरः किन्नरचंचलाक्ष्यः ॥४५॥

वनानि यस्मिन् विविधद्रुमाणि प्रवालजालैर्जितविद्रुमाणि ।
पक्वाम्रफलराजीपिंजराणि देवीपदाब्जानतनिर्जराणि ॥४६॥

पादान् यदीयान् कनकावदातानुपासते किन्नरखेचराद्याः ।
उच्चस्य लक्ष्मीललिताम्बुजस्य कुर्वीत को वा नहि पर्युपास्तिम् ॥४७॥

यदश्मसंक्रान्ततनोः प्रियायाः भ्रान्त्या तदीयं प्रतिबिम्बरूपम् ।
पुष्पायुधान्धः परिरब्धुकामस्तत्प्रेयसीभिर्हसितो ललज्जे ॥४८॥

ज्योतिष्कचक्रोक्षकदम्बकेन दिने रजन्यां च विगाह्यमाने ।
तमोऽन्नभृद्व्योमखले विशाले दधाति यश्चान्तरकीलकत्वम् ॥४९॥

जिनेन्द्रजन्माभिषवाम्बुपूतं सर्वस्य लोकस्य च नाभिभूतम् ।
उच्छ्रायतो योजनलक्षमात्रं सैद्धान्तिका यं प्रवदन्ति शैलम् ॥५०॥

गुरुणा च यत्र तरुणाऽगुरुणा वसुधा क्रियते सुरभिर्वसुधा ।
कमनातुरैति रमणैकमना रमणी सुरस्य शुचिहारमणी ॥५१

भित्तिप्रतिज्वलदनेकमनोज्ञरत्ननिर्यन्मयूखपटलीसततप्रकाशाः ।
द्वारेषु निमकर-पुष्करिणीजलोर्मिमूर्च्छन्मरुन्मुषितयात्रिकगात्रघर्माः ।५

षचालिकाकलिततोरणदीप्ति कुम्भसौवर्णदण्डमृदुकेतुमनोरमाभाः ।
यत्रोल्लसन्मणिमयप्रतिमासनाथाः केषां मनांसि न हरन्तितरांविहाराः ।

प्रविधूतसान्द्रतमसंतमसं विविधाग्र्यरत्नविभया विभयाः ।
शिखरं सुपादपरमं परममुपभुञ्जतेऽस्य विबुधा विबुधाः ॥५४

यदीयचामीकरसानुभित्तौ समुद्गताः शाद्वलकल्पवृक्षाः ।
दूरात्समन्तादवलोक्यमाना उत्पादयन्ति भ्रममैन्द्रनीलम् ॥५५

चारणैः शुभकथाविचारणैर्हारिभिः शुचिगुणैर्विहारिभिः ।
योगिभिः परमचिन्नियोगिभिर्लीयतेऽत्र तदघं विलीयते ॥५६॥

एतस्य तस्यानुपमस्य मेरोरधित्यकालंकरणं सुरेन्द्रः ।
भजञ्जिनं पंचभिरात्मरूपैः प्रापद्वनं पाण्डकनामधेयम् ॥५७॥

ज्योतिर्व्यन्तरदेवदानवगणैः सान्तःपुरैरावृतो
लज्जाकातरलोचनाभिरमरीभिर्वीक्ष्यमाणो मुहुः[१] ।
पूतात्मावततार तत्र परमां भक्तिं दधत्तीर्थपे
सौवर्णे किल पाण्डुकम्बलशिलापट्टे वास्तोष्पतिः ॥५८॥

इति श्रीकीर्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये
मेरुवर्णनो नाम पंचमः सर्गः ।

---

१. वि. मा. मृदुः

## षष्ठः सर्गः

अथार्हतः स्नात्रकृते सुरेन्द्राः परेऽपि सर्वे मिलिताः सुमेरौ ।
निवासहेतोर्दिवसावसाने विहंगपूगा इव वासवृक्षे ॥१॥
लावण्यपुञ्जं परिपीयमानं विलोलनेत्रैरमरांगनाभिः ।
ततो निजांके जिनपं निधाय सौधर्मनाथो निषसाद पीठे ॥२॥
प्रभोः प्रभा नीलपयोजकल्पा शक्रांशुपूरच्छुरिता बभासे ।
प्रत्यग्र-काश्मीरज-यूष-मिश्रा कालोदधेर्वीचिपरम्परेव ॥३॥
प्रवर्तमानः सुरनायकांके जिनोऽतसीसूनसमानभानुः ।
विकस्वरे चम्पकपुष्पकोशे प्रशस्यरोलम्बयुवेव रेजे ॥४॥
पुरन्दरांके परिवर्तमानो विनीलकान्तिर्भगवांस्तदानीम् ।
समाश्रितक्ष्माधरमध्यसानोर्जिगाय लक्ष्मीं गजबालकस्य ॥५॥
मृद्रूप्यजाम्बूनदरत्नकुम्भान्नानौषधीमिश्रजलैः प्रपूर्य ।
स्नात्रं विधातुं जगदीश्वरस्य मर्त्याः समस्ता उपतस्थिरेऽथ ॥६॥
वृन्दारकाणां व्यरुचन् करेषु कुम्भाः सुधादीधितिमण्डलाच्छाः[1] ।
उन्निद्रहेमाम्बुजमध्यसंस्था विशुद्धपक्षा इव राजहंसाः ॥७॥
तीर्थाहृतैः स्वच्छजलैर्भृतास्ते कुम्भाश्चतुष्कोशमुखा विरेजुः ।
पीयूषकुण्डानि भुजंगलोकात् स्नात्रं प्रभोः कर्तुमिवागतानि ॥८॥
अद्यास्मदीयं सफलं सुरत्वमद्याधिपत्यं चरितार्थमेतत् ।
तीर्णा वयं चाद्य भवाम्बुराशिं चित्ताब्जकोशेष्विति भावयन्तः ॥९॥
समुच्छ्वसन्तः प्रमदातिरेकान्मेघाम्बुसेकादिव नीपकुञ्जाः ।
संजायमानांगदरत्नघर्षं समन्ततो भक्तिरसात्पतन्तः ॥१०॥
अथ प्रशस्यायतबाहुशाखं जगत्त्रयाभीप्सितदानशीलम् ।
सुरासुरेन्द्रा विधिना विधिज्ञा समभ्यसिञ्चन् जिनकल्पवृक्षम् ॥११॥

---

१. यशो. मा., वि. मा. मण्डलास्थाः

स नाथशीर्षोपरि राजते स्म पतन् घटेभ्यः पयसां समूहः ।
आकाशगङ्गासलिलप्रवाहो द्रष्टुं जिनेन्द्रं निपतन्निवोत्कः ॥१२॥

जिनेन्द्रगात्रात् स्म पतन्ति पीठे प्राक् तानि वारीणि ततोऽद्रिशृङ्गे ।
ततोऽपि निम्नं समुपेत्य तस्थुरुच्चा स्थितिर्वा क्व भवेज्जडानाम् ॥१३॥

जिनांगसंसर्गपवित्रमम्भः सुरासुरेन्द्रैरपि तद् ववन्दे ।
गुणोत्तमानां विहिता हि सेवा फलं जडेभ्योऽपि ददाति सद्यः ॥१४॥

क्षीराम्बुधेः क्षीरलवाविलग्नाः प्रभोरलक्ष्यन्त विनीलकाये ।
नक्षत्रपूगा इव देवमार्गे मुक्ता इवानीलशिलोपरिष्टात् ॥१५॥

दिव्यानि तूर्याणि सुराहतानि रेणुस्तदानीं मधुरस्वराणि ।
आहन्यमाना अपि किं गम्भीराः कदापि कुत्रापि खरं रसन्ति ॥१६॥

अभ्यर्च्य कर्पूरकुरंगनाभिश्रीखण्डकृष्णागुरुकुंकुमाद्यैः ।
अपूपुजन् स्वर्गसदोऽथ नाथं प्रसूनवस्त्राभरणैः प्रधानैः ॥१७॥

विचित्रवर्णः स्पृहणीयशोभः सुरासुरेन्द्रैर्विहितः सुगन्धिः ।
अंगेऽङ्गरागो रुरुचे तदीये दिवाव साम्भोमुचि सान्ध्यरागः ॥१८॥

वन्द्यौ पदौ यस्य पुरन्दराणां तस्यापि नाथस्य शिरः समन्तात् ।
आरुह्य पुष्पावलयो हि तस्थुः स्थानं पवित्राः क्व न वा लभन्ते ॥१९॥

अत्यर्थमासीन्नयनाभिरामः आबद्धदिव्याभरणो जिनेन्द्रः ।
अग्रेऽपि हंसः कमनीयमूर्तिर्हेमाम्बुजातैः किमुताप्तसङ्गः ॥२०॥

सुधारसस्नानमिवामृतांशौ विश्वेशरूपे विगतोपमाने ।
दिव्यांशुकानां परिकल्पितोऽयं किंचिद् विशेषं न पुपोष वेषः ॥२१॥

सानन्दलज्जं मुहुरीक्षमाणास्त्रिलोकनाथं ललनाः सुराणाम् ।
तदायतानाम्मनिमेषभाजां साफल्यमापुर्निजलोचनानाम् ॥२२॥

अन्यान् समस्तान् विषयान् विहाय सुरासुराणां[२] नयनाम्बुजानि ।
जिनेन्द्ररूपे युगपन्निपेतुर्भृंगा इवोत्फुल्लपयोजखण्डे ॥२३॥

---

२. महि. विहायामरासुराणां, यशो. मा. विहाय सुरामराणां

अथोल्लसच्चञ्चलकुण्डलांशुवाह्लीकसंलिप्तकपोलभित्तिः ।
सप्रश्रयं योजितपाणिपद्मः स्तोतुं प्रवृत्तो भगवन्तमिन्द्रः ॥२४॥

श्रियां निवासं प्रयतः प्रणम्य प्रभो त्वदीयं चरणारविन्दम् ।
सेव्यं मुमुक्षूत्तम-राजहंसैस्त्वां स्तोतुमिच्छामि जगत्प्रतीक्ष्य ॥२५॥

गुणानुरूपं तव नाथ ! रूपं सहस्रनेत्रोऽप्यलमीक्षितुं न ।
सहस्रजिह्वोऽपि गुणानुदारान् वक्तुं प्रभूष्णुर्नहि तावकीनान् ॥२६॥

तथापि नुन्नस्तव भक्तिसख्या स्तोतुं गुणांस्ते स्पृहयालुरस्मि ।
किं प्रेरितो देव ! शिशुर्जनन्या गिरा स्खलन्त्यापि न वक्ति नाम ॥२७॥

तव स्तवेनार्य[3] शरीरभाजां गलन्ति कर्माणि पुराकृतानि ।
निदाघसूर्यातपतापितानि हैमाचलानीव हिमस्थलानि ॥२८॥

सर्वास्ववस्थास्वपि लोकनाथ ! भवान् प्रणुतो हरतेऽघजालम् ।
वृद्धोऽपि बालोऽपि युवापि सूर्यो हिनस्त्यवश्यं हि तमःसमूहम् ॥२९॥

अनन्यवृत्तिः स्मरणं त्वदीयं जिनेन्द्र ! भक्त्या विदधाति योऽत्र ।
सिद्धिश्रिया वा त्रिदशश्रिया वा वध्वेव कान्तः परिरभ्यते स्म ॥३०॥

त्वं यत्र चित्ते वससि प्रवेशं तत्रान्यदेवस्य ददासि नैव ।
विरोधमुक्तो विदितस्तथापि तत्त्वं प्रभो ! वा महतामगम्यम् ॥३१॥

त्वदाज्ञयैवात्र जिनेन्द्र ! सिद्धाः सिध्यन्ति सेत्स्यन्ति शरीरभाजः ।
पद्मानि बोधं रविरोचिषेवालभन्त लप्स्यन्त इतो लभन्ते ॥३२॥

एके जिन ! त्वां प्रविहाय मूर्खाः कान्तानुरक्तेषु सुरेषु रक्ताः ।
तेषां जडानामुचितं तदेतत् तुल्या हि तुल्येषु रतिं लभन्ते ॥३३॥

अन्यैरजय्यो जिन ! मोहमल्लः समूलकाषं कषितस्त्वयैव ।
केनापि नो नैशमिवान्धकारं निर्णाशितं सूर्यमृते परेण ॥३४॥

---

३. यशो. मा., वि. मा. स्तवेनात्र

यद्यर्कदुग्धं शुचिगोरसस्य प्राप्नोति साम्यं च विषं सुधायाः ।
देवान्तरं देव ! तदा त्वदीयां तुल्यां दधाति त्रिजगत्प्रदीप ॥३५॥
तीर्थान्तरीया अपि नामभिन्नं त्वामेव नाथाप्तममी वदन्ति ।
आप्तो हि सिद्धो भुवि वीतरागः स तु त्वमेवासि चिदात्मरूप ॥३६॥
यस्मिंस्तव ज्ञानतरंगिणीशे विश्वत्रयीयं शफरीव भाति ।
तस्मै त्वदीयाय गुणाय भर्तर्नमोऽस्तु नित्यं परमात्मवैद्य[४] ॥३७॥
एकान्ततः प्राणिहिता यथा ते वाणी विभो ! नैव तथा परस्य ।
यादृक् स्वमाता सुतवत्सला[५] स्यात्सौम्यापि तादृग् न भवेद् विमाता ।३८
देवासुराणां परिपूजनीयस्त्वत्पादचिन्तामणिरेष पूतः ।
केषांचिदेवासुमतां जिनेन्दो[६] ! पुण्यात्मनां दृग्विषयं समेति ॥३९॥
अद्य प्रलीनं मम कर्मजाल भाग्यं जजागार मदीयमद्य ।
वशीकृता सिद्धिवधूर्मयाद्य प्रभो त्वदीयाननदर्शनेन ॥४०॥
अक्षीणलक्ष्मीकमिदं सदा ते सौम्यं मुखं तीर्थप ! पश्यतां नः ।
चित्तेषु नूनं प्रतिभासतेऽयं चन्द्रोऽत्रिचक्षुर्मल एव देव ॥४१॥
तेजोमयोऽय मुखदर्पणस्ते विभाति कश्चिद् भगवन्नपूर्वः ।
यत्रापरेषां वदनानि नैव प्रापुः कदा यत्प्रतिरूपभावम् ॥४२॥
तुभ्यं नमः केवलिपुंगवाय, तुभ्यं नमः पूरुषपुण्डरीक ।
तुभ्यं नमः संसृतिपारंगाय, तुभ्यं नमः सेवकतारकाय ॥४३॥
आख्यातु लोकः किमपीह सार्व ! देवस्त्वमेवेति मतिः परं मे ।
दृष्टे हि यस्मिंस्त्वयि तात्त्विकानां हर्षाश्रु वर्षन्ति विलोचनानि ॥४४॥
सक्षिप्यते वाक् स्तवनात्त्वदीयान्नेयत्तया विश्वपते ! गुणानाम् ।
किन्तु श्रमान्मुग्धतयाथवार्य ! स्तुत्वा व्यरंसीदिति देवराजः ॥४५॥

---

४. यशो. मा., वि. मा. परमात्मवेद्य

५. महि. ननु वत्सला

६. वि. मा. जिनेन्द्र

किंचिद्विनम्राः स्तनकुम्भभाराच्छिरीषपुष्पादपि कोमलांग्यः ।
मदालसा मन्थरदृष्टिपाता लीलाविनिद्रायतविलोचना: याः ॥४६॥
वृता दुकूलेन सुकोमलेन विलग्नकाञ्चीगुणजात्यरत्ना ।
विभाति यासां जघनस्थली सा मनोभवस्यासनगब्दिकेव[7] ॥४७॥
नीलाश्मकर्णाभरणावलीढा यासां कपोलाः कनकाभवर्णाः ।
जयन्ति शोभां शशलांछनस्य व्यक्ताष्टमीकैरवबान्धवस्य ॥४८॥
कन्दर्पवीरायुधघातदूनो यासां कठोरस्तनतुम्बयुग्मम् ।
विकूणिताक्षो विनिवेश्य काये मुक्तारतिः स्यात्किल देवलोकः ॥४९॥
सुमांसलाश्चम्पकपुष्पभासः सौन्दर्यलावण्यरसेक्षुदण्डाः ।
जघा यदीया मृदुला विरेजुः शुण्डा इवानंगमतंगजस्य ॥५०॥
याः पक्वबिम्बीफलसोदरोष्ठ्यो वलित्रयीभूषितमध्यदेशाः ।
तासां बभुर्मंजुलबाहुवल्ल्य इवाद्भुता मन्मथवीरभल्ल्यः ॥५१॥
रणत्तुलाकोटिरवाभिरामं यासां पदद्वन्द्वमनिन्द्यशोभम् ।
जिगाय गुञ्जन्मधुपालिशालि प्रबुध्यमानं कनकाम्बुजातम् ॥५२॥
तूर्येषु गम्भीरनिनादवत्सु प्रताड्यमानेषु चतुर्विधेषु ।
गन्धर्वबालाभिरुदाननाभिर्गीतेषु साध्वालपितेषु सत्सु ॥५३॥
मृगेक्षणा नृत्यधुरन्धरीणाः शक्राज्ञयाऽथाप्सरसो रसाढ्याः ।
संगीतकं देवकुमारमिश्राः प्रारेभिरे ताः पुरतो जिनस्य ॥५४॥ युग्मम् ।
काचिद् दृढानद्धदुकूलचोला सुपीवरश्रोणिविलग्नवेणिः ।
तालानुरूपं परिनाटयन्ती चक्रे क्षणं चित्रगतानिवेन्द्रान् ॥५५॥
परिस्खलत्कंकणचारुहस्ता काचित् स्वनीवीं शिथिलां सलीलम् ।
दृढ[8] बबन्ध स्मितगौरितास्या मुद्रामिवानंगनरेश्वरस्य ॥५६॥
कटीतटे न्यस्य कराब्जमेकं चेक्रीयमाणाभिनयान् परेण ।
सशब्दमंजीरपदा चचाल द्रुतं द्रुतं काचिदनंगतन्त्रा ॥५७॥

---

७. वि. मा. आसनगन्दिकेव

८. यशो. मा. दृढां

कापि स्फुरत्कुण्डलकान्तिनीरप्रक्षालितोत्तेजितगण्डभित्तिः ।
व्याक्षिप्तचित्तं त्रिदशं युवानं नृत्यन्तमग्रे स्खलितं जहास ॥५८॥
मुखश्रिया तर्जितचन्द्रबिम्बा काञ्चीगुणालम्बिनितम्बबिम्बा ।
रम्यांगहारा सरलांगयष्टिर्ननर्त काचित्सुविलासदृष्टिः ॥५९॥
तथा च देवाः परमप्रमोदान्नभस्तले केचिदुदप्लवन्त ।
केचिच्च चक्रुर्जयशब्दमुच्चैः केचिद् गभीरं मृगराजनादम् ॥६०॥
प्रभोः पुरस्तादिति चारुनाट्यं नानाभिधेयं विधिना विधिज्ञाः ।
विधाय देवा विदधुः प्रमोदं हृष्यन्ति सिद्धे हि न के स्वकार्ये ॥६१॥
द्वाविंशतीर्थाधिपतेः प्रकल्प्य जन्माभिषेकोत्सवमेवमेते ।
चतुर्विधाः स्वर्गसदः सभार्याः कृतार्थमात्मानममंसतोच्चैः ॥६२।
पापं संहरते हिनस्ति दुरितं मुष्णाति रोगव्रजं
दौर्भाग्यं पिदधाति यच्छति शिवं लक्ष्मीं समाकर्षति ।
पुण्यं पाति रुणद्धि दुर्गतिमुखं कष्टाच्च गोपायति
स्नानं तीर्थकृतः कृतं सुकृतिनां किं किं न कुर्याच्छुभम् ।६३।
त्रिदशगणपरीतो नायको निर्जराणां
जिनमथ जनयित्रीसन्निधौ स्थापयित्वा ।
विरचितजिनयात्रस्त्वष्टद्वीपतीर्थे
दलितसकलपापः कल्पमाद्यं जगाम ॥६४॥

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये
जन्माभिषेक वर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ।

## सप्तमः सर्गः

वर्द्धस्व त्वं महाराज ! जातस्ते पुत्रपुंगवः ।
समुद्रविजयायाथ शशंसुरिति चेटिकाः ॥१॥
तासां वाग्भिर्महीनाथः सुधासिक्त इवाभवत् ।
कस्य वा न भवेद् हर्षस्तादृशांगजजन्मनि ॥२॥
ततस्तुष्टमनाः राजा वस्त्राभरणकांचनैः ।
वर्धापकाः समस्तास्ताश्चक्रे कल्पलतोपमाः ॥३॥
प्रसादसुमुखः सोऽथ पाकशासनशासनः ।
नियोगिनः समाहूय झटित्येवान्वशादिति ॥४॥
यादवान्वयपूर्वाद्रावुदितः पुत्रभास्करः ।
सर्वैर्दत्तावधानैर्भो युष्माभिः श्रूयतामितः ॥५॥
यदस्ति बन्दिगोवृन्दं रुद्धं चारकवाटके ।
मुच्यतामधुना सर्वं तद् युष्माभिर्मदाज्ञया ॥६॥
पंजराम्भोजसंस्थास्तून् विहंगममधुव्रतान् ।
रवेरिवांशवो यूयं कुरुध्वं स्वैरगामिनः ॥७॥
अमारिघोषणां चापि घोषताखिलपत्तने ।
उत्पन्नो मे सुतो यस्माच्छरण सर्वदेहिनाम् ॥८॥
विधद्ध्वं नगरं सर्वं सारश्रीखण्डपंकिलम् ।
पंचवर्णैस्तथा पुष्पैर्दन्तुरं धूपधूसरम् ॥९॥
इत्यादि शासनं राज्ञः प्रतिश्रुत्य नियोगिनः ।
मुदिता निर्ययुः सौधात् काननादिव हस्तिनः ॥१०॥
तत्क्षणादेव ते सर्वमकार्षुर्नृपशासनम् ।
वचसा भूभुजां सिद्धिर्मनसेव दिवौकसाम् ॥११॥
तदा सूर्यपुरं रेजे नृत्यत्तोरणकेतनम् ।
प्रभोः पुण्यप्रभावेण दिवः खण्डमिव च्युतम् ॥१२॥

बभौ राज्ञः सभास्थानं नानाविच्छित्तिसुन्दरम् ।
प्रभोर्जन्ममहो द्रष्टुं स्वर्विमानमिवागतम् ॥१३॥
स्निग्धयोषिज्जनोद्गीतैः कलैर्धवलमंगलैः ।
न श्रूयते परः शब्दः कर्णयोः पतितोऽपि च ॥१४॥
अनेकैः स्वार्थमिच्छद्भिर्विनीपकावनीपकैः ।
राजमार्गस्तदाकीर्णः खगैरिव फलद्रुमः ॥१५॥
नृत्यहेतुर्मयूराणां निष्कृताम्बुदगर्जितः ।
तूर्यनादोऽतिगम्भीरो दिगन्तान् व्यानशे तदा ॥१६॥
अथ कुंकुमकर्पूरहरिचन्दनचर्चितः ।
सुगन्धि-सारताम्बूलरंजिताधरपल्लवः ॥१७॥
हसच्छदच्छविस्वच्छचारुचीनांशुकावृतः ।
हारार्धहारकेयूरमुख्यभूषणभूषितः ॥१८॥
पूर्णेन्दुमण्डलाकारच्छत्रशोभितमस्तकः ।
वीज्यमानो महेलाभिश्चामरैर्मोहितामरैः ॥१९॥
मगलपाठश्रेष्ठैः स्तूयमानः पदे पदे ।
समस्तमन्त्रिसामन्तपुरोहितसमन्वितः ॥२०॥
राज्यलक्ष्मीसमाश्लिष्टः श्रीदशार्हमहीपतिः ।
सिंहासनमलञ्चक्रे पुरन्दर इवापरः ॥२१॥ ॥कुलकम्॥
श्रेष्ठिमण्डलभूपालप्रधानपुरुषैः कृतम् ।
प्रणामं जगृहे सोऽथ प्रतिपत्तिपुरस्सरम् ॥२२॥
नटैर्नाट्यमथारेभे गायनैर्गीतमुत्तमम् ।
हल्लीसकं कुलस्त्रीभिर्बन्दिभिर्विरुदावली ॥२३॥
तव प्रतापदीपस्य कौशिका भुवनत्रयी ।
पतंगोऽभूत्पतंगस्तु दशा च त्रिदशाचलः ॥२४॥
विध्यायतेऽम्भसा वह्निः सूर्योऽब्देन पिधीयते ।
न केनापि पर राजस्त्वत्तेजः परिहीयते ॥२५॥

या: सौधसुखशय्यासु सुप्तास्त्वदरिनायिकाः ।
क्रुद्धे त्वयीश ! ताः शैलशिलापट्टेषु शेरते ॥२६॥
रणरात्रौ महीनाथ ! चन्द्रहासं विलोक्यते ।
वियुज्यते स्वकान्ताभ्यश्चक्रवाकैरिवारिभिः ॥२७॥
क्राम्यन्ती बहुशो देशान् खेलन्तीश्वरमूर्धनि ।
आसमुद्रं विशश्राम तवाज्ञा भीष्मसूरिव ॥२८॥
तव त्यागोद्धता भूप मार्गणा गुणनोदिताः ।
भवतो[1] विजयारम्भ जल्पन्ति समराजिरे ॥२९॥
शुभ्रापि शशिनः कान्तिर्हीयते रविसन्निधौ ।
न पुनर्नाथ कुत्रापि त्वत्कीर्त्तिः पर्यहीयत ॥३०॥
भुञ्जन् राजन् ! महीमेनां प्रथयन् न्यायमुत्तमम् ।
प्रजाजनकसंकाश ! त्वं जीव शरदां शतम् ॥३१॥
इत्थं बन्दिजनोद्गीतां कीर्त्ति मुक्ताफलोज्ज्वलाम् ।
स शुश्राव महीजानिः कर्णामृतच्छटोपमम् ॥३२॥
नृपोऽथ पूरयामासार्थिनामाशां घनोत्करैः ।
शक्रयमार्णवावासकुबेराणां यशोभरैः ॥३३॥
प्रार्थनामर्थिनामर्थैः साफल्यं लम्भयन्नृपः ।
द्वादशाह्नीं व्यधादुच्चैः सूनोर्जन्ममहोत्सवम् ॥३४॥
अथामन्त्र्य निजावासे राजा यादवपुंगवान् ।
भोजं भोज यथायुक्ति सच्चकार सगौरवम् ॥३ ॥
गर्भस्थिते जगन्नाथे जनयित्री यदैक्षत ।
रिष्टरत्नमयं स्वप्ने चक्रनेमिं विभास्वरम् ॥३६॥
ततः स्वप्नानुसारेण प्राङ् नञ्यपश्चिमादिवत् ।
अरिष्टनेमिरित्याख्यां चक्रतुः पितरौ प्रभोः ॥३७॥

---

१. यशो. मा., वि. मा. भवते

यदुकुलकमलार्कश्चन्द्रशालान्तराले
विविधविबुधधात्रीमातृभिर्लाल्यमानः ।
ससलिलवनभूमौ मालिकैः पाल्यमानः
शुभतरुरिव लग्नो वर्धितुं विश्वनाथः ॥३८॥

इति श्रीकीर्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये
भगवज्जन्मोत्सववर्णनो नाम सप्तम सर्गः ।

—卐—

## अष्टमः सर्गः

अथ समं पितृबन्धुमनोरथैः प्रववृधे भगवान् पितृसद्मनि ।
अभिमतार्थकताप्रमुखैर्गुणैः[1] सुरगिराविव बालसुरद्रुमः ॥१॥
मरकताश्मदलैरिव निर्मितं परिनिबद्धमिवाञ्जनपुद्गलैः ।
अभिनवाम्बुधरैरिव वेष्टितं प्रभुवपुः फलिनीद्युति दिद्युते ॥२॥
सरसिजं परिहाय समाश्रयन् भगवतश्चरणाम्बुरुहं श्रियः ।
परिचिते ननु सत्यपि सुन्दरे किल जनोऽभिनवे रमतेऽखिलः ॥३॥
अतिकठोरतया परिघः पुनर्भुजगराजवपुर्विषवत्तया ।
नहि ययावुपमाविषयं प्रभोः सरलयोः शुभयोर्भुजदण्डयोः ॥४॥
परमसौम्यगुणो जनदृक्सुखोऽतिशुचि भागवताननमानशे ।
इव मरीचिसमुच्चय उज्ज्वलः सकलशीतलदीधितिमण्डलम् ॥५॥
शमसुधारसवीचिपरिप्लुते लवणिमाञ्जनमिश्रिततारके ।
परितिरस्कृतपंकजसम्पदी भवगतो नयने स्म विराजतः ॥६॥
हरिमुखैर्यदुराजकुमारकैः सह समानवयोभिरनिन्दितः ।
जिनपतिः प्रचिखेल विमोहयञ्छुभवने भवनेऽपि च नागरान् ॥७॥
समतिक्रम्य शनैरथ शैशवं समुपलभ्य विभुर्नवयौवनम् ।
परिपुपोष वपुः सुभगाकृतिर्गजगतो जगतो नयनामृतम् ॥८॥
किमुत पालयितुं भुवमागतः सुरपतिः किमु वा मदनोऽङ्गवान् ।
अयमभूदिति वीक्ष्य जिनेश्वरं जनतया नतया हृदि तर्कितम् ॥९॥
अभवदस्य परार्थफलो गुणो निपुणता जगतः प्रतिबोधकृत् ।
अभिमता विभुताखिलयोगिनां सुजनता जनतापहृतौ क्षमा ॥१०॥
अभिनवं वय ऋद्धिरनुत्तरा परमरूपकला प्रभुताद्भुता[2] ।
परमभून्न विकारपरं मनोऽत्रभवतो भवतोयधिमोचिनः ॥११॥

---

१. यशो. मा. अभिमताप्यंकता

२. महि, वि. मा. परमाद्भुता

जगति ते स्तवनीयपदाम्बुजा वयसि ये तरुणेऽप्यविकारिणः ।
रयहृताः सरितो न पतन्ति केऽपि सरलाः सरला विरला द्रुमाः ॥१२॥
अथ निषेवितुमेनमनेनसं विहितसौवतरुप्रसवोपदः ।
ऋतुगणः प्रगुणीकृतसम्पदुच्चयततोऽयततोदयशालिनम् ॥१३॥
अधरयन् क्रमतः शिशिरश्रियं मलयमारुतपल्लवितांघ्रिपः ।
ऋतुपतिः सुरभिर्विपिनावनाववततार ततारवकोकिलः ॥१४॥
विविधपल्लवपुष्पफलाकुला श्रुतिसुखोन्मदनीडजकूजिता ।
समभवत्सकलापि वनस्थली सुमनसां मनसां रतिकारिणी ॥१५॥
मधुरमंजरिरंजितरंरणद्भ्रमरबन्दिजनैरभिनन्दिता ।
हरति शाद्वलपुष्पितचम्पकैर्न सह का सहकारलता मनः ॥१६॥
कुसुममौक्तिकभासितदिङ्मुखः परिलसद्भ्रमरेन्द्रमणिप्रभः ।
किसलयैररुणो विपिनश्रियां स तिलकस्तिलकश्रियमातनोत् ॥१७॥
रचयितुं ह्युचितामतिथिक्रियां पथिकमाह्वयतीव सगौरवम् ।
कुसुमिता फलिताम्रवणावली सुवयसां वयसां कलकूजितैः ॥१८॥
गुपिलचूतलतागहनान्तरे सहचरीपरिरम्भणलालसम् ।
शुकमवेक्ष्य मुहुर्मुहुरस्मरन् न पथिकः पथि कः स्वकुटुम्बिनीम् ॥१९॥
उपवनेषु समीक्ष्य विलासिनः स्वदयितांसनिवेशितदोर्लतान् ।
विरहिणो लुलुठुः स्मृतवल्लभा भुवि कलाविकला मदनाकुलाः ॥२०॥
वनितयानितया रमणं कयाप्यमलया मलयाचलमारुतः ।
धुतलतातलतामरसोऽधिको नहि मतो हिमतो विषतोऽपि न ॥२१॥
उपवने पवनेरितपादपे नवतर बत रन्तुमनाः परा ।
सकरुणा करुणावचये प्रियं प्रियतमा यतमानमवारयत् ॥२२॥
प्रियकरः कठिनस्तनकुम्भयोः प्रियकरः सरसार्तवपल्लवैः ।
प्रियतमां समवीजयदाकुलां नवरतां वरतान्तलतागृहे ॥२३॥
त्यज रुषं भज तोषममुं जनं निपतितं पदयोरवलोकय ।
इति वदन् प्रणयी परिषस्वजे मधुरसाधुरसान्वितयान्यया ॥४२॥

सरसचारुतराधरपल्लवं कमलिनीललनामुखपंकजम् ।
अलियुवा पिबति स्म विकस्वरं सुमधुरं मधुरंजितमानसः ॥२५॥
इव विलोकयितुं सुरभिश्रियं विकचकुन्दलताकुसुमच्छलात् ।
उडुगणो निखिलः समवातरत् परिविहाय विहाय इलातलम् ॥२६॥
रसभृताः सरसीषु विरेजिरे कनकपंकजकोशसमुच्चयाः ।
स्नपयितुं जलदेवतया स्मरं सकलशाः कलशा इव सज्जिताः॥२७॥
उपवने भवनेऽपि मधूत्सवे प्रियसखा नवपल्लवशेखराः ।
अनुबभूवुरनारतमङ्गना ललनदोलनदोर्ग्रहजं[३] सुखम् ॥२८॥
विरचयँल्लघिमानमलं निशः प्रकटभावमियाय महीतले ।
तप ऋतुस्तिरयन्निजसम्पदा समधुना मधुना जनितां श्रियम् ।२९॥
अविकलानि फलानि महीरुहां परिपपाच तपस्तपनांशुभिः ।
घटचयाननलैरिव कुम्भकृच्छ्रिवतरान् बत रागमनोहरान् ॥३०॥
सुरभिपंकजराजिपतद्रजःकणकरम्बितवारिजलाशये ।
युवजनः प्रचिखेल तपे रसादबलया वलयान्वितहस्तया ॥३१॥
प्रियतमाधरबिम्बमिव प्रियो मधुकरो लिलिहे मधुरं तपे ।
विकचपाटलपुष्पकदम्बकं नवमरन्दमरं दधदुज्ज्वलम् ॥३२॥
अजनि किं न तपेऽध्वगदुःखकृत्खरदिवाकरतप्तरजश्चयः ।
ज्वलितवह्निकणप्रतिमोऽनिलश्च्युतपलाशपलाशमुखा द्रुमाः ॥३३
जलमुचां पटलैर्जलवर्षिभिर्जनितमुष्णरुचा ग्लपयन् क्लमम् ।
अथ समाविरभूज्जलदागमो नवकदम्बकदम्बकवर्द्धकः ॥३४॥
स्मितमणीवककेसररेणुभिर्दिगबलावदनानि विभूषयन् ।
अलिकुलं मधुलोलमखेदयद् विचकलश्च कलः पवनाकुलः ॥३५॥

*सकलशाः सकला सम्पूर्णा शा लक्ष्मीर्येषु ते इति टीका ।

३. वि मा ललनदोलनयोर्ग्रहजं

सुखयति स्म न कं तपतापहृज्जलदकालभवः शिशिरानिलः ।
परिवहन्नवकांचनकेतकीशुभरजोभरजोज्ज्वलसौरभम् ॥३६॥
स्मरपतेः पटहानिव वारिदान् निनदतोऽथ निशम्य विलासिनः ।
समदना न्यपतन्नवकामिनीचरणयो रणयोगविदोऽपि हि ॥३७॥
जयति कापि हि शक्तिरनीदृशी कपटिनोऽस्य मनोभवयोगिनः ।
पटुहृषीकमना अपि यद्वशो न हि शृणोति न पश्यति वेत्ति नो॥३८॥
क्षरदभ्रजला कलगर्जिता सचपला चपलानिलनोदिता ।
दिवि चचाल नवाम्बुदमण्डली गजघटेव मनोभवभूपतेः ॥३९॥
रविमलं विमलं रचयन्नथो सकमलं कमलं परिपूतयन् ।
सुखयितुं किल नाथमुपागतो धवलरुग्जलदो जलदात्ययः[४] ॥४०॥
समधुपाः स्मितपंकजपंक्तयो रुरुचिरे रुचिरेषु सरःस्वथ ।
नवशरच्छ्रियमीक्षितुमातनोदिव दृशः शतधा जलदेवता ॥४१॥
आपः प्रसेदुः कलमा विपेचुर्हंसाश्चुकूजुर्जहसुः कजानि ।
सम्भूय सानन्दमिवात्रतेरुः शरद्गुणाः सर्वजलाशयेषु ॥४२॥
रसविमुक्तविलोलपयोधरा हसितकाशलसत्पलिताकिता ।
क्षरितपक्वमशालिकणद्विजा जयति कापि शरज्जरती क्षितौ ॥४३॥
मदोत्कटा विदार्य भूतलं वृषाः क्षिपन्ति यत्र मस्तके रजो निजे ।
अयुक्तयुक्तकृत्यसविचारणां विदन्ति किं कदा मदान्धबुद्धयः॥४४॥
विजहुरुद्धततां स्मयसम्पदो जलधिगाः शिखिनश्च घनात्यये ।
गतवतीष्टजने बलपुष्टिदे भवति कस्य न दर्पधनच्युतिः[५] ? ॥४५॥
अनारतं त्यक्तजलौघपाण्डुभिर्व्याप्तां समूहैः परितः पयोमुचाम् ।
द्यां वीक्षमाणोऽत्र जहर्ष को नहि श्रीखण्डलिप्तांगलतामिवांगनाम्॥४६॥
कम्पयन्नथ दरिद्रकुलान्युद्दण्डवात इव पुष्पवनानि ।
वह्निकोणपरिवर्तितभास्वन्मण्डलो हिममयः समयोऽयात् ॥४७॥

---

४. यशो. मा., वि. मा. जलदात्यये
५. यशो मा., वि. मा दर्पधनच्युतिः

उपययौ शनकैरिह लाघवं दिनगणो खलराग इवानिशम् ।
ववृधिरे च तुषारसमृद्धयोऽनुसमयं सुजनप्रणया इव ॥४८॥

संत्यज्य विलासिनीजनो मुक्ताफलमालां समुज्ज्वलाम् ।
भेजे दहनं प्रदाहकं काले रिपुमप्याश्रयेत्सुधीः ॥४९॥

इह भर्तृभिर्विरहितांगनामनोवनदीपितप्रचुरकामपावकः ।
हिमपातदग्धजलजातकाननः शिशिरो यथावशिशिरो गुणैरथ ॥५०॥

भृङ्गाः स्फुटत्कांचनपद्मखण्डे स्वैरं पपुर्ये सुरभौ मरन्दम् ।
माघे करीरेषु चरन्ति तेऽपि गतिर्विधातुर्विषमेति शंके ॥५१॥

मलयजादिविलेपन-नीरुच्छयन-माल्यविधावकृतादराः ।
हिमबलेन तथाप्यहरंस्तरां युवतयो बत योगिमनांस्यपि ॥५२॥

समकेतकचम्पककुन्दलताजलजातवने हिमपातहते ।
भ्रमरो विचचार शिरीषवने सकलोऽप्युदित श्रयतीह जनः ॥५३॥

ऋतुगणे सुभगेऽपि किलेदृशे न च कदा चकमे विषयान् विभुः ।
मृगपतिर्निवसन् विपिनान्तरेऽपि सरसानि फलानि कदाऽत्ति किम् ॥५४॥

अमोघशस्त्रं विषमास्त्रवीरः प्रायुंक्त यद्यज्जगताम्प्रतीक्ष्ये ।
बभूव तत्तद् विगतप्रतापं क्षीराम्बुराशाविव वासवास्त्रम् ॥५५॥

खेलन्नाथोऽथान्यदा शस्त्रशालां प्राप्तः शंखं वीक्ष्य नारायणस्य ।
आदाच्चैनं पाणिना रक्तभासा शृंगेणेव प्राग्गिरिश्चन्द्रबिम्बम् ॥५६॥

त्रिजगत्प्रभुपाणिपंकजस्थो हिमपिण्डादपि पाण्डुरः स शंखः ।
प्रमुमोष विकस्वराम्बुजातोपरिवर्तिष्णुमरालबालशोभाम् ॥५७॥

प्रमथ्यमानाम्बुधिनादधीरं संव्यापयन्तं युगपद् दिगन्तान् ।
बद्धस्पृहं श्रीरमणस्य चेतो भयेषु कुर्वन्तमसंस्तुतेषु ॥५८॥

क्षोणीभृतां गह्वरमण्डलोत्थैः प्राप्तप्रकर्षं प्रतिशब्दसंघैः ।
विश्वत्रयं शब्दमयं सृजन्तमेकार्णवं कालमिव क्षयाख्यम् ॥५९॥

पयोदनादं परिशंकमाना मयूरबाला अभिनर्तयन्तम् ।
ध्मातो जिनेन्द्रेण स पाञ्चजन्यो ध्वनिं ससर्जेव हतो मृदंगः ६०त्रिभिःकुलकम्

चकितेनेव मुरारिणा ततो विपुलं नाथबलं बुभुत्सुना ।
जगदे भगवान् स सस्मितं मम बाहुं नमयेति बान्धव ॥६१॥

हरिभुजं भगवानथ लीलया कमलनालमिवानतिमानयत् ।
भवति तावदिभस्य करो दृढः स्पृशति यावदमुं न मृगाधिपः ॥६२॥

अवलम्ब्य चतुर्भुजोऽथ दीर्घां भुजवल्लीं भुवनैकनायकस्य ।
नमनाक्षम आसदत्सुपर्वद्रुमशाखाश्रितवानरस्य शोभाम् ॥६३॥

सकलराज्यमिदं कमलापते ! कुरु यथेष्टमशङ्कमनाकुलः ।
अलमपि स्पृहयालुरहं न तन्निजगदे प्रभुरीति वृषाकपिः ॥६४॥

लक्ष्मी-लावण्य-लीला-कुल-गृह-ललनाश्लेषमुक्ताभिलाषो
मन्वानस्तुच्छमेतद्विषयरससुखं तत्त्वतो दुःखरूपम् ।
भुञ्जानो ज्ञानतोषप्रशमरतिसुखं शाश्वतानन्दहेतुं
तस्थावित्थं जिनेशो निजपितृसदने यौवनस्थोऽपि सुस्थः ॥६५॥

इति श्री कीर्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये
षड्ऋतुवर्णनो नामः अष्टमः सर्गः ।

## नवमः सर्गः

विभुं विभाव्य भोगार्हमपत्यस्नेहमोहितौ ।
प्रोचाते पितरावेवं कैटभारातिमन्यदा ॥१॥
तथा विधीयतां वत्स ! यथा नेमिकुमारकः ।
गृह्णात्येष वधूपाणिं संकेतं भोगसम्पदः ॥२॥
तमर्थमथ पत्नीभ्यः सर्वाभ्यो हरिरादिशत् ।
ईदृशेषु हि कार्येषु प्रायस्तासां प्रवीणता ॥३॥
सत्यभामादयोऽन्येद्युर्देवकीसूनुवल्लभाः ।
नेमिं व्यजिज्ञपन्नेवं स्नेहसारं पटूक्तिभिः ॥४॥
नेमे ! रम्या गलत्येषा यौवनश्रीः क्षणे क्षणे ।
निशाशेषे यथा चन्द्रबिम्बदीधितिमण्डली ॥५॥
तद् भो ! भोगानभुञ्जानः पावनं यौवनं ह्यदः ।
किं मुधा गमयस्येवं तद्वनस्वापतेयवत् ॥६॥
विश्वातिशायि ते रूपं सौभाग्यं विश्ववल्लभम् ।
चातुर्यं वर्णनातीतं लावण्यमुपमातिगम् ॥७॥
प्रार्थनीयं प्रभुत्वं ते गीर्वाणस्वामिनामपि ।
महिमा तावको नेमे ! देवानामप्यगोचरः ॥८॥
बहुना किं कुमारेन्द्र ! जगदाह्लादकारकैः ।
त्वमाश्रितो गुणैः सर्वैर्नभोदेश इवोडुभिः ॥९॥
परमैश्वर्य-सौन्दर्य-रूपमुख्या गुणा नृणाम् ।
ऋते कान्तां न शोभन्ते निशां विनेन्दुधामवत् ॥१०॥
तद् देवर ! त्रपां मुंच रतिविघ्नविधायिनीम् ।
फलं यौवनवृक्षस्य द्राग् गृहाण विचक्षण ॥११॥
विवाहय कुमारेन्द्र ! बालाश्चंचललोचनाः ।
भुंक्ष्व भोगान् समं ताभिरप्सरोभिरिवामरः ॥१२॥

रूपसौन्दर्यसम्पन्नां शीलालंकारधारिणीम् ।
क्षरल्लावण्यपीयूषसान्द्रपीनपयोधराम् ॥१३॥
हेमाब्जगर्भगौरांगीं मृगाक्षीं कुलबालिकाम् ।
ये नोपभुञ्जते नूनं वेधसा वंचिता हि ते ॥१४॥युग्मम्॥
संसारे सारभूतो यः किलायं प्रमदाजनः ।
सोऽसारश्चेत्तवाभाति गर्दभस्थगणोपमः ॥१५॥
एवं तर्हि वयं नेमे ! न विद्मस्तावकीं धियम् ।
अथवा वर्तसे नूनं सिद्धिस्त्रीसंगमोत्सुकः[1] ॥१६॥
सौख्यमेवोपभोक्तव्यं मोक्षेऽपि ननु यादव ।
लभ्यते चेत्तदत्रैव तत्किं क्षूणं वदानघ ॥१७॥
श्रुत्वेति भ्रातृजायानां विवेकविकला गिरः ।
किंचिद् विहस्य विश्वेशो निपुणं प्रोचिवानिति ॥१८॥
अये तत्त्वं न जानीथ वराक्यो मुग्धबुद्धयः ।
कुत्र तत्त्वावबोधो वा रागान्धानां शरीरिणाम् ॥१९॥
अज्ञातपरमार्थो हि स्तौति वैषयिकं सुखम् ।
पक्वं निम्बफलं मिष्टं वक्त्यदृष्टप्रियालुकः ॥२०॥
यत्किंचिद्येन वा दृष्टं स तदेव प्रशंसति ।
निम्बमेव यतो मिष्टं मन्यते करभांगना ॥२१॥
मोदकः क्वौकशश्चात्र क्वः सर्पिःखण्डमोदकः ।
क्वेदं वैषयिकं सौख्य क्व चिदानन्दजं सुखम् ॥२२॥
नामवर्णाविभेदेऽपि सुखयोरेतयोः किल ।
स्वादे महान् विशेषोऽस्ति गो-स्नुहीक्षीरयोरिव ॥२३॥
हितं धर्मौषधं हित्वा मूढाः कामज्वरार्दिताः ।
मुखप्रियमपथ्यं तु सेवन्ते ललनौषधम् ॥२४॥

---

१. यशो. मा., वि. मा. सिद्धिश्री

आत्मा तोषयितुं नैव शक्यो वैषयिकैः सुखैः ।
सलिलैरिव पाथोधिः काष्ठैरिव धनञ्जयः ॥२५॥
अनन्तमक्षयं सौख्यं भुञ्जानो ब्रह्मसद्मनि ।
ज्योतिःस्वरूप एवायं तिष्ठत्यात्मा सनातनः ॥२६॥
अतः परं न वक्तव्यं युष्माभिरीदृशं पुनः ।
अवाच्यं शिष्टलोकस्य ग्रामीणजनतोचितम् ॥२७॥
स्वभावं मे न जानीथ वसन्त्योऽपि सदान्तिके ।
पाथोजस्य यथामोदं भेका सहोषिता अपि ॥२८॥
प्रजावत्यः समस्तास्ता निशम्येति प्रभोर्वचः ।
एवं बभाषिरे भूयः सत्याभिः सरलोक्तिभिः ॥२९॥
श्रीनेमे नरकोटीर जगत्पूज्य जिनेश्वर ।
यदुक्तं भवता सर्वं तदेव खलु तात्त्विकम् ॥३०॥
जानीमश्च वयं पूज्य ! यदेते विषयास्तव ।
मानसे प्रतिभासन्ते निःस्वादास्तुषराशिवत् ॥३१॥
परं स्वपितरौ सर्वैर्बहुमान्यौ तनूद्भवैः ।
युष्मादृशैर्विशेषेण विचाराचारकोविदैः ॥३२॥
अविभाव्यात्मनः कष्टं पितॄन् प्रीणन्ति नन्दनाः ।
स्कन्धारोपितपित्रम्बः श्रवणोऽत्र निदर्शनम् ॥३३॥
किंच पित्रोः सुखायैव प्रवर्तन्ते सुनन्दनाः ।
सदा सिन्धोः प्रमोदाय चन्द्रो व्योमावगाहते ॥३४॥
भुवने निस्स्पृहा एव परानुग्रहकाम्यया ।
प्रवर्तन्ते महात्मानो दाक्षिण्येन वशीकृताः ॥३५॥
अपि प्रमोदयन् विश्वं यथा कुमुदबान्धवः ।
प्रीणयत्यधिक सौवान् कृत्वेति कुमुदाकरान् ॥३६॥
तथा त्वमपि विश्वेश ! जगदाह्लादकारकः ।
अतो विशेषतो वर्गं स्वं प्रीणयितुमर्हसि ॥३७॥युग्मम्॥

किंवा भूयो वयं वच्मस्त्रिकालज्ञानवान् स्वयम् ।
भगवानेव जानाति लोकलोकोत्तरस्थितिम् ॥३८॥
अत्राभ्यन्तरे शिवाभ्येत्य बाहौ धृत्वा जगत्प्रभुम् ।
प्रोवाचेति बलिं यामि कुमार तव नेत्रयोः ॥३९॥
वत्स ! प्रसद्यतां सद्यो विवाहः प्रतिपद्यताम् ।
पूर्यन्तां नरकोटीर ! पितॄणां हि मनोरथाः ॥४०॥
निस्स्पृहोऽपि जगन्नाथोऽथ पित्रोरुपरोधतः ।
प्रपेदे तद्वचः किञ्चिदलंघ्यवचनौ हि तौ ॥४१॥
ततः प्रमुदिताः सर्वे यादवाः सह बन्धुभिः ।
विशेषेण शिवादेवो समुद्रविजयस्तथा ॥४२॥
इतश्चाम्भोजतुल्याक्षो भोजराजांगभूरभूत् ।
उग्रसेनो महीजानिरुग्रसेनासमन्वितो ॥४३॥
प्रतापयशसी येन शत्रूणां रणपर्वणि ।
ग्रस्येते परमस्थाम्ना चन्द्रार्काविव राहुणा ॥४४॥
करकृतकरवालाय प्रसाद्य यस्मै रणोत्थिताय ।
करबालाः करवालान् वितरन्ति[२] विपक्षभूपालाः ॥४५॥ ※
प्रातः सामन्तभूपालैरुपदीकृतवारणाः ।
क्षरन्मदजलैर्यस्य सिञ्चन्त्यास्थानमण्डपम् ॥४६॥
आधारो दीनलोकानां शरण्यः शरणार्थिनाम् ।
यो निधिर्गुणरत्नानामारामः कीर्त्तिवीरुधाम् ॥४७॥
कोशो लक्ष्मीसरस्वत्योरालानः सत्त्वहस्तिनाम् ।
मण्डपो नीतिवल्लीनां यः स्तम्भः कुलसद्मनाम् ॥४८॥

---

२ वि. मा. करवालान् ददति किल

※ 'करे दण्डे बालाः कुमारिका वयम् इति सूचनाय करवालांश्चन्द्रहासान् ददति' इति टीका ।

राजीमतीति नाम्नासीत् फुल्लराजीवलोचना ।
दुहिता तस्य भूपस्य जयन्तीव दिवस्पतेः ॥४९॥
करण्डी शीलरत्नस्य वापी लवणिमाम्भसः ।
वल्ली सौभाग्यकन्दस्य यावधी रूपसम्पदाम् ॥५०॥
निष्कलंकेन्दुलेखेव या मृद्वंगी मृणालवत् ।
स्पृहणीयाब्दमालेव हरिणीव सुलोचना ॥५१॥
यस्या वक्त्रजितः[3] शंके लाघवं प्राप्य चन्द्रमाः ।
तूलवद्[4] वायुनोत्क्षिप्तो बम्भ्रमीति नभस्तले ॥५२॥
विचालालम्बिरोलम्बविनीलनलिनश्रियम् ।
जह्रे नेत्रयुगं तस्या मुग्धस्निग्धकनीनिकम् ॥५३॥
सलावण्यरसौ यस्याः स्तनकुम्भौ स्म राजतः ।
वक्षःस्थलं समुद्भिद्य कामकन्दाविवोत्थितौ ॥५४॥
बभावूरुयुगं यस्याः कदलीस्तम्भकोमलम् ।
आलान इव दुर्दन्तमीनकेतनहस्तिनः ॥५५॥
शंके यस्याः पदद्वन्द्वसौन्दर्यश्रीपराजितम् ।
कमलं सेवतेऽरण्यमद्यापि भयवेपिरम्[5] ॥५६॥
यस्या हि रूपसौन्दर्यनिर्जिता नाकिनायिकाः ।
प्रदर्शयन्ति नो नृणां स्वरूपं लज्जिता इव ॥५७॥
रूप - प्रेम - त्रपा - धर्मप्रमुखैर्महिलागुणैः ।
या व्याप्ता विमलैः शस्यैश्चन्द्रलेखेव भानुभिः ॥५८॥
तां श्रीनेमिकुमाराय कुमारीं सुकुमारिकाम्[6] ।
उग्रसेनं ययाचेऽथ सबन्धुर्यादवाग्रणीः ॥५९॥

---

३. वि. मा. वक्त्रेण जितः

४. वि. मा. तुलवद्

५. वि. मा. भयवेपितम्

६. यशो. मा., वि. मा. कुमारीसुकुमारिकाम्

उग्रसेनोऽप्युवाचैवं हर्षविस्मेरलोचनः ।
आनन्दिता वयं तावदनया कथयाप्यहो ॥६०॥
सतां तिष्ठतु सम्बन्धः कथापि सुखयत्यलम् ।
दूरे चन्द्रश्चकोराणां ज्योत्स्नैव[7] कुरुते मुदम् ॥६१॥
सम्बन्धमन्तरा नौ भोः सम्बन्धोऽयं[8] भवेद्यदि ।
तदा माधव ! मन्येऽहं क्षैरेयी[9] खण्डमिश्रिता ॥६२॥
दत्ता मया कुमारीयं कुमारारिष्टनेमये ।
शिवः स्यादनयोर्योगो रोहिणीचन्द्रयोरिव ॥६३॥
जाते कान्तेऽथ सम्बन्धे सम्बन्धिनावुभावपि ।
प्रारेभाते निजं कार्यं जलबीज इवांकुरम् ॥६४॥

उपयामयोग्यमखिलं यदिष्यते
प्रगुणीकुरुध्वमधुनेह वस्तु तत् ।
इति भोजभूमिपतिरादिशन्मुहुः[10]
सचिवान् निजान् प्रमदवारिवारिधिः ॥६५॥

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये
कन्यालाभवर्णनो नाम नवमः सर्गः ।

---

७. वि. मा. ज्योत्स्नेव

८. वि. मा. सम्बन्धो नु

९. यशो. मा., महि. क्षीरेयी

१०. यशो. मा. मृदुः

## दशमः सर्गः

सखीमुखेन्दोः प्रसरन्तमेनं वृत्तान्तपीयूषरसं पिबन्ती ।
ततश्चकोरीव चकोरनेत्रा न प्राप तृप्तिं नृपभोजपुत्री ॥१॥
सत्यं ममाग्रे यदि न ब्रवीषि मातुः पितुस्ते शपथोऽस्ति तर्हि ।
किं हास्यमेतत् किमु सूनृतं वा ब्रूषे पप्रच्छेति मुहुः[1] सखीं सा ॥२॥
इतः समुद्राच्युततालक्ष्मणां चकार विज्ञप्तिममात्यमण्डली ।
एषा प्रशस्या नरलोकनायकाः ! सामग्र्यशेषोपयमस्य सूत्रिता ॥३॥
उत्सार्याशुचिपुद्‌गलान् पुरपथाः सिक्ताः सुगन्धोदकैः
कीर्णास्तत्र विचित्रचम्पकजपाजात्यादिपुष्पोत्कराः ।
कर्पूरागुरुधूपधूमपटलैर्व्याप्तं नभोमण्डल
मुक्ता बन्दिजना अमी प्रददते नेमीश्वरायाशिषम् ॥४॥
सौवर्णाश्च मनोरमा मणिचिता उत्तम्भितास्तोरणा
रम्भास्तम्भमनोहराः प्रगुणिता उच्चैस्तरा मण्डपाः ।
सन्मुक्ताफल- हेमकन्दल- ललन्माणिक्यजालोज्ज्वला
बद्धास्तत्र विचित्रचित्रकलिताश्चन्द्रोदया मंजुलाः ॥५॥
एषा किं भुवमागता सुरपुरी किं वाथ भोगावती
लंका वा किमु कांचनी किमथवा यक्षेश्वराणां पुरी ।
आसन्नोपवनोन्नतद्रुमहिमच्छायाश्रितैरुन्मुखै-
रेवं पान्थजनैस्तदा किल हृदि श्रीद्वारिका तर्क्यते ॥६॥
एते वंशमहत्तरा हितकरा शृंगारसारा इमे
मुग्धाः स्निग्धवधूजना अविकलं गायन्ति मंगलम् ।
वर्तन्ते बहुहास्यकौतुकपरा मत्ताः कुमारा अमी
द्वारेऽमी निवसन्त्युपायनजुषः सामन्तभूमीभृतः[2] ॥७॥

---

१. यशो. मा., वि. मा. मृदुः

२. यशो. मा. भूमीभुजः

रंगद्घर्घरिकोल्वणा रणरणन्मंजीरसंजिक्रमा
एता नर्तनतत्परा सुनयनास्तिष्ठन्ति वारांगनाः ।
आयाता नवकिन्नरस्वरधरा गन्धर्वसंघास्त्वमी
भेरी–मर्दल–ताल-वेणु–पणवातोद्यावलीवादकाः ॥८॥
नेपथ्यं कलयन्नपूर्वरचनं शोभां परामावहन्
भूपालैः परितोऽन्वितो हरिहयो वृन्दारकौघैरिव ।
बिभ्रन्निर्मलमंगरागमतुलं व्यावृत्तरागोऽपि सन्
वीवाहाय जगत्प्रभुर्वररथारूढः प्रतस्थे सः ॥९॥
पुण्याढ्यं कमला यथा निजपतिं योषाः सुशीला यथा
सूत्रार्थं विशदा यथा विवृतयस्तारा यथा शीतगुम् ।
पुंसां कर्म यथा धियश्च हृदयं खानां यथा वृत्तयः
सानन्दं कुलकोटयः किल यदूनामन्वगुस्तं तथा ॥१०॥
तदान्यकार्येषु पराङ्मुखानां द्रष्टुं जिनेन्द्रं भृशमुत्सुकानाम् ।
पुरांगनानां चललोचनानां बभूवुरित्थं किल चेष्टितानि ॥११॥
काचिन्नवालक्तकलिप्तपादा जवाद् गवाक्षं प्रति सचरन्ती ।
अजीजनद्विभ्रममम्बुजानां छायापदाब्जैर्मणिकुट्टिमेषु ॥१२॥
काचित्करार्द्रप्रतिकर्मभंगभयेन हित्वा पतदुत्तरीयम् ।
मञ्जीरवाचालपदारविन्दा द्रुतं गवाक्षाभिमुखं चचाल ॥१३॥
प्रभुं दिदृक्षुः सहसोत्थिता काप्यर्धाचिताया निजहारयष्टेः ।
मुक्ताफलैः स्थूलतरैर्गलद्भिः पदे पदे भूमिमलंचकार ॥१४॥
कस्याश्च वातायनसंस्थितायाः आस्वादनाय प्रगुणीकृतस्य ।
सचूर्णताम्बूललतादलस्य तस्थौ मुखेऽर्धं च करे तथार्धम् ॥१५॥
परा प्रभो रूपमवेक्षमाणा रसातिरेकादनिमेषदृष्टिः ।
सख्याह्वयन्त्या अपि पार्श्वगायाः शुश्राव शब्दं बधिरेव नैव ॥१६॥
काप्यम्बुकुम्भं करपल्लवाभ्यामाकर्षयन्त्युन्नतकन्धराक्षी ।
आकृष्टकोदण्डलतेव तस्थौ स्त्रीणामहो दर्शनलोलुपत्वम् ॥१७॥

पराञ्जयित्वा नयनाम्बुजातमेकं परस्याञ्जनहेतवेऽथ ।
शलाकया कज्जलमाददाना शीघ्रं गवाक्षं प्रति निर्जगाम ॥१८॥
काचित्सुवर्णालयजालकान्तर्दृष्ट्वा प्रभुं राजपथेऽवतीर्णम् ।
प्रह्लादकं चन्द्रमिवाभ्रमार्गे संयोज्य पाणी प्रणनाम मूर्ध्ना ॥१९॥
हले प्रतीक्षस्व निमेषमेकं यथाहमप्येमि पिधाय गेहम् ।
इत्थ वदन्तीं स्वसखीमुपेक्ष्य पीठात्समुत्थाय दधाव काचित् ॥२०॥
काभिश्चिदावासगवाक्षभूमौ मिथः स्वसम्मर्दवशेन कामम् ।
हारच्युता मौक्तिकरत्नपूगा मार्गेषु कीर्णा इव पुष्पपुञ्जाः ॥२१॥
भोज्यं सुराणामपि दुर्लभं यत् स्थाले विशाले परिवेषितं तत् ।
हित्वा परा द्वारमभिप्रतस्थे चक्षुर्विलोलं खलु कामिनीनाम् ॥२२॥
कस्तूरिकाकुंकुमपत्रवल्लीः कपोलभित्तौ परिकल्पयन्तौ ।
प्रसाधिकाया अपसार्य हस्तौ दधाव काचित्सहसा गवाक्षम् ॥२३॥
गवाक्षभूमौ स्थितकामिनीनां विलोक्य वक्त्राणि तदावनिस्थाः ।
संशेरते किं गगनप्रदेशे सुधाकराणामुदिताः सहस्राः ॥२४॥
संश्लाघ्यमानः सुरसुन्दरीभिः ससेव्यमानो नरदेवलोकैः ।
ततः प्रभुश्छत्रनिवारितोष्मा भोजस्य गेहं समया जगाम ॥२५॥
अत्रान्तरे राजिमती सखीभिरेवं जजल्पे सखि ! पश्य पश्य ।
वरोऽमरीणामपि दुर्लभोऽयं नेमिः समागात्तव भाग्यकृष्टः ॥२६॥
अन्योन्यं दृढपीवरस्तनतटैः संघट्टयन्त्यो रसा-
देता यादवभूभुजां युवतयस्तन्वन्ति गीतध्वनिम् ।
एते मंगलपाठका जयरवं कुर्वन्ति कोलाहलं
श्रूयन्ते बधिरीकृताखिलदिशो वादित्रनादा अमी ॥२७॥
ततो हिमार्तानिव वेपमानान् निरुद्धदस्यूनिव कातराक्षान् ।
दृष्ट्वा पशून् वाटकचारकस्थान् जगाद सूत जगदेकबन्धुः ॥२८॥
मान्यस्य तातस्य बलस्य किं वा भोजस्य लक्ष्मीरमणस्य वा किम् ।
किंचिद् वराकैरपराद्धमेभी रुद्धा यदेवं वद वावदूक ॥२९॥

किंचिन्न कस्याप्यपराद्धमेभिरेतैर्यदूनामिह किन्तु भावि।
सगौरवं भोजनगौरवं भो! वचो जगादेति स दक्षिणस्थः ॥३०॥
ऊचेऽथ नाथः शृणु सारथे भो! गृह्णन्त्यदो भोजनगौरवं ये।
तेऽधोगतौ गौरवमाप्नुवन्ति तेषां च न गौरवमातनोति ॥३१॥ *
ततश्च मोक्षं पशवोऽपि मंक्षु विश्वैकबन्धोः परमप्रसादा-
दासादयामासुरमी समस्तास्तथाविधानां महिमा ह्यचिन्त्यः ॥३२॥
सूतो रथं स्वामिनिदेशतोऽथ निवर्तयामास विवाहगेहात्।
यथा गुरुज्ञानबलेन मंक्षु दुर्ध्यानतो योगिजनो मनः स्वम् ॥३३॥
दृष्ट्वाथ नेमिं विनिवर्तमानं किमेतदित्याकुलं वदन्तः।
तमन्वधावन् स्वजनाः समस्तास्त्रस्ताः कुरंगा इव यूथनाथम् ॥३४॥
वाग्भिः सुधाचन्दनशीतलाभिः प्राबोधयत्तानिति नेमिनाथः।
मरीचिभिः कैरवकाननानि रात्रौ यथा कैरविणीविवोढा ॥३५॥
भोः संशृणुध्वं ननु धर्मपापहेतू[3] प्रतीतौ सुखदुःखयोर्वै।
तयोश्च कारुण्यवधौ प्रसिद्धावेवं स्थिते किं विदुषा विधेयम् ॥३६॥
दयैव कार्या सुखकांक्षिणातः स्यात्सापि सर्वांगिसुरक्षणेन।
तदिच्छतावश्यमबालिशेन संगः समस्तः परिहार्य एव ॥३७॥
अत्रान्तरे भास्वरकायकान्ति[4]-प्रद्योतिताशेषहरिद्विभागैः।
अस्तोकलोकान्तिकदेवलोकैर्विज्ञप्त ईशः स्तुतिपूर्वमेवम् ॥३८॥
तुभ्यं नमो नम्रसुरासुराय तुभ्यं नमो मन्मथनिर्जिताय।
तुभ्यं नमः स्मेरमुखाम्बुजाय तुभ्यं नमः सर्वजगद्धिताय ॥३९॥
आकार एवैष तव प्रतीक्ष्य निर्दोषभावं वदति प्रकाशम्।
स्वरूपमावेदयतीह पूर्वं बाह्यैव चेष्टा किल सज्जनस्य ॥४०॥

---

* तेषां गौः स्वर्गो रवं शब्दमाह्वानमिति यावत् नो नह्यातनोति विस्तृणोति। नहि तेषां स्वर्गप्राप्तिरिति भावः इति टीका।

३. महि. धर्मपापे हेतू।

४. महि., वि. मा. भास्करकायकान्ति।

देशप्रकाशप्रवणाः प्रदीपवद् गृहे गृहे तीर्थकराः सहस्रशः।
एकस्त्वमेवासि सहस्ररश्मिवद्विश्वावभासी जिनराज ! केवलम्॥४१॥

प्रसद्य सद्यः परमार्थवेद्य ! प्रवर्त्यतां निर्मलधर्मतीर्थम्।
प्रयान्ति भव्या उपलभ्य यद् द्रागगाधसंसारसमुद्रपारम् ॥४२॥

अथ प्रभुर्वार्षिकदानमुच्चैः प्रवर्तयामास यथेष्टमुर्व्याम्।
श्रीपुष्करावर्तकवंशजातः प्रमाणवर्जं सलिलं यथाब्दः ॥४३॥

स्निग्धां विदग्धां नृपभोजपुत्रीं साम्राज्यलक्ष्मीं स्वजनं च हित्वा।
पितॄननुज्ञाप्य च माननीयान् बभूव दीक्षाभिमुखोऽथ नेमिः ॥४४॥

इतः शचीपीनकुचाब्जकोशालिना दधानः कुलिशं करेण।
ज्वलत्प्रभामण्डलकुण्डलाभ्यां सम्पादितापूर्वकपोलशोभः ॥४५॥

वेल्लत्पताकोल्वणकिंकिणीध्वनिनादवाचालविमानसंस्थः ।
विज्ञाय दीक्षासमयं सुरेन्द्रः सुरैः समागत्य[५] ननाम नेमिम्॥४६॥युग्मम्

जलैर्विशुद्धैरभिषिच्य पूर्वं विलिप्य दिव्यैर्घुसृणैस्ततश्च।
प्रधानवस्त्राभरणैर्जिनेन्द्रं विभूषयन्ति स्म सुरा नराश्च ॥४७॥

नेमिस्तदा निर्मलरत्नमालामुक्तालतामण्डितकण्ठपीठः ।
जात्याश्मगर्भाभविभो बभासे धृतेन्द्रकोदण्ड इवाम्बुवाहः ॥४८॥

सुरासुरेन्द्रैर्यदुनायकैश्च विधीयमाने परमोत्सवेऽथ।
माणिक्यमुक्ताफलजालमालामनोरमां हेममयीं पवित्राम् ॥४९॥

नरेन्द्र-नागेन्द्र-सुरेन्द्र-चन्द्रैर्विमानकल्पां सुखमुह्यमानाम्।
अध्यास्य शस्यां शिबिकां जिनेन्द्रः श्रीद्वारिकाराजपथे प्रतस्थे।५०युग्मम्

वचःसहस्रैरभिनन्द्यमानश्चक्षुःसहस्रैरवलोक्यमानः ।
शिरःसहस्रैरभिवन्द्यमानश्चेतः सहस्रैरवधार्यमाणः ॥५१॥

---

५. यशो. मा. सहागत्य।

संस्तूयमानो नरदेवदैत्यैरुद्गीयमानः सुरसुन्दरीभिः ।
व्रतं जिघृक्षुर्भुवनाधिपोऽथ प्रापोज्जयन्ताचलचूतषण्डम् ।५२। युग्मम्

तत्राशोकतले निवेश्य शिबिकां नेमिस्ततोऽवातरत्
संत्यज्यांशुकभूषणादिनिखिलं निस्संगचूडामणिः ।
सिद्धिस्त्रीपरिरम्भलाभकरणे संचारिकां कोविदां
सार्धं[६] शुद्धकुलैः सहस्रपुरुषैर्दीक्षां प्रपेदे ततः ॥५३॥

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये
दीक्षावर्णनो नाम दशमः सर्गः ।

---

६. वि. मा. सार्धैः ।

—卐—

## एकादशः सर्गः

अथ भोजनरेन्द्रपुत्रिका प्रविमुक्ता प्रभुणा तपस्विनी ।
व्यलपद् गलदश्रुलोचना शिथिलांगा लुठिता महीतले ॥१॥

मयि कोऽयमधीश ! निष्ठुरो व्यवसायस्तव विश्ववत्सल ।
विरहय्य निजाः स्वधर्मिणीर्नहि तिष्ठन्ति विहंगमा अपि ॥२॥

अपि सन्मुखवीक्षणेन नानुगृहीता भवता कदाप्यहम् ।
मयि तत्किमिहेयती कृतिन्नबलायां भवतोऽप्रसन्नता ॥३॥

अपराधमृते विहाय मां यदिमामाद्रियसे व्रतस्त्रियम् ।
बहुभिः पुरुषैः पुरा धृतां नहि तन्नाथ ! कुलोचितं तव ॥४॥

रचयन्ति यदीदृगुत्तमा ननु कस्मै तदिद निवेद्यते ।
अथवा सरितां पतिर्निजां स्थितिमुज्झन्निह केन वार्यते ॥५॥

कुरुषे यदि सर्वदेहिनां करुणां किं तदहं न देहभृत् ।
विजहासि यदेवमीश ! मामतिदीनां करुणास्पदं सताम् ॥६॥

सुरपादपवत्समीहितं जगतः पूरयसि त्वमेव हि ।
निहताशमिमं जनं विदधीथाः किमिति प्रिय ! प्रभो ॥७॥

अपहृत्य मनो मम प्रभो नहि गन्तुं तव युज्यते वने ।
परिगृह्य परस्य वस्तु यन्नहि धीराः प्रविशन्ति गह्वरे ॥८॥

लभते नियतं स चिन्तितं हृदि यो ध्यायति पूज्यमात्मनः ।
यदिदं प्रवदन्ति सूरयो मयि किं तद् व्यभिचारमेष्यति ॥९॥

ननु राजिमती पुराप्यहं मम नेमेश्च विचाल आयता ।
बत राजिरपाति वेधसा नियतं दुर्बलघातको विधिः ॥१०॥

अथवा मम दुष्टकर्मणां फलमेतत्सकलं ध्रुवं प्रभो ।
विजहाति मरुं यदम्बुदः स हि दोषो मरुदुर्भगत्वजः ॥११॥

इति तां घनशोकविह्वलां विलपन्तीं लुठितामिलातले ।
निजगाद सबाष्पगद्गदं स्वजनोऽङ्के विनिवेश्य वत्सले ॥१२॥

राजिमति पुत्रि कोविदे भव धीरा विजहीहि शोचनम् ।
किं किं न भवेच्छरीरिणां प्रतिकूले हि विधौ शुभेतरत् ॥१३॥

कतरो विधिना न खण्डितः कतरोऽभीष्टवियोगमाप न ।
सुखितो भुवनेऽत्र कः सदा फलितं कस्य समस्तमीहितम् ॥१४॥

रुदितेन तनूभृता किल स्वमनोऽभीष्टमवाप्यते यदि ।
बहुशो विरसं विरटस्तदा रवणो नैव लभेत यातनाम् ॥१५॥

निपतन् सहसा महीतले म्रियते मेरुमहीधरः कदा ।
न पुनर्भविनां शुभाशुभः परिणामः समुपात्तकर्मणाम् ॥१६॥

परिवृत्य दिनक्षपे इव ध्रुवमेतोऽङ्गिनि सम्पदापदौ ।
तदलं विबुधे शुचाधुना कुरु धर्मं सकलार्थसाधनम् ॥१७॥

नियतं सकलार्थसिद्धयः सुकृतादेव भवन्ति देहिनाम् ।
नवपल्लवपुष्पसम्पदोऽम्बुदसेकादिव नीपभूरुहाम् ॥१८॥

इति सा स्वजनेन बोधिता विदुषी शोकमपास्य दूरतः ।
समजायत धर्मतत्परा सुखबोध्यो हि विशारदो जनः ॥१९॥

अथ रागरुषाविवर्जित. · शशिबिम्बोपमसौम्यदर्शनः ।
सुरशैलसमानधीरिमा परमध्यानमना जिनोऽजनि ॥२०॥

करुणारसवीचिसागरः परवस्तुग्रहणे पराङ्मुखः ।
हितसत्यवचाः सुशीलवान् मुनिपोऽभूत्समलोष्टकांचनः ॥२१॥

परमोग्रतपः करौजसा घनकमद्रुचयं समुत्खनन् ।
प्रभुमत्तमतंगजः सुखं विजहाराचलकाननादिषु ॥२२॥

उपसर्ग-परीषह-द्विषोऽवगणय्यात्र जिनाधिनायकः ।
तप आरभतातिदुःसहं खलु शुद्धिर्न तपो विनात्मनः ॥२३॥

चरण-क्षितिपाल-सैनिकैरथ गाढं विषया विडम्बिताः।
निजनायकमोहराट्पुरो विदधुः पूत्कृतिमुच्चकैरिति ॥२४॥
हठतः परिगृह्य सर्वतो जिननेमीशमनोमहापुरम् ।
चरणाधिपसैनिकैर्विभो सह कामेन कदर्थिता वयम् ॥२५॥
खगणो निखिलो नियन्त्रितः स्मरभार्या बहुशो विडम्बिता ।
महिता नगराधिदेवता मदमिथ्यात्वभटादिमौलिभिः ॥२६॥
बहुना किमधीश शत्रुभिः परमध्यानबलेन निर्दयम् ।
रतिकामबलं विलोडितं सुरसंघैरिव मेरुणार्णवः ॥२७॥
त्वरितं निजवैरिशुद्धये क्रियतां देव समुद्यमोऽधुना ।
रिपवस्तरवश्च दुर्द्धरा ननु पश्चाद् दृढबद्धमूलकाः ॥२८॥
रिपवश्च गदाश्च यन भो उदयन्तोऽपि न सर्वथा हताः।
कतिभिर्दिवसैरसंशयं स हि तेभ्यो लभते परापदम् ॥२९॥
अनिहत्य रिपून् स्वगर्वतो गतचिन्तो निवसेन्नृपोऽत्र यः।
सविधे स्वपितीह मूढधीः स परिक्षिप्य हविर्हुताशने ॥३०॥
विषयैरिति संनिवेदिते जगदे मोहनृपेण सस्मितम् ।
विचरन्तु सुखं मृगा अमी शेते यावदयं मृगाधिपः ॥३१॥
मम नेमिपुर हि शासतः किल कालः प्रययावनन्तकः।
तदिदं मयि जीवति क्षितौ सति गृह्णाति भटोऽद्य कः परः॥३२॥
अथ मोहमहीभुजात्मनो द्विषतां चापि बलं बुभुत्सुना ।
कुमताभिधदूतपुंगवः प्रहितः संयमराज-सन्निधौ[1] ॥३३॥
परितो द्विषतां मनोऽम्बुधौ जनयन् क्षोभमनुत्तरं ततः।
चरणाधिपपर्षदन्तरे स विशित्वेति जगौ पटुप्रवाक् ॥३४॥
तव सन्दिशतीति मोहराड् चरणाधीश्वर मन्मुखेन भोः।
त्यज नेमिमनःपुरं मम व्रज चान्यत्र तवास्तु मंगलम् ॥३५॥

---

१. महि कुमताभिधदूतपुङ्गवं प्रहिणोति स्म चरित्रसन्निधौ

त्यजतस्तव नेमिपत्तनं नहि लज्जा कणिकापि संयम ।
यदमोचि पुरापि राजभिर्बहुभिर्भू बलवत्प्रणोदितैः ॥३६॥
अथवा चरणेश दुःसहे मम सैन्ये प्रबले विलोकिते ।
पुरतोऽपि पलायनाभिधा तव विद्या वशवर्तिनी सदा ॥३७॥
न पुनर्यदि नेमिपत्तनं विजहासि व्रतभूप ! सम्प्रति ।
न भविष्यसि तर्हि निश्चितं चरितं मे तव संस्तुतं सदा ॥३८॥
परिणामहितं वचो मया स्फुटमाख्यातमिदं तवाग्रतः ।
अथ यत्तव रोचतेतरां कुरु तत्सम्प्रति संयमाधिप ॥३९॥
कुमते वदतीत्थनर्गलं चरणाधीश्वरनेत्रनोदितः ।
स्मितपूर्वमभाषत स्फुटं सचिवः शुद्धविवेकसंज्ञकः ॥४०॥
तव दूत सुभाषितं ह्यदस्त्वमहो वाग्म्यसि बुद्धिमानसि ।
वचन भवता विनेदृशं ननु वक्तुं भुवि वेत्ति कः परः ॥४१॥
विनिपात्य रिपून् परं बलात् प्रगृहीत निजवासहेतवे ।
रिपुमोहभयाद् विमुच्यते कथमस्माभिरिद मनःपुरम् ॥४२॥
परिगृह्य तव प्रभोर्बलादपि दुर्गाणि पुराण्यनेकशः ।
विशदात्मपुराणि सर्वथा परिभुंक्ते व्रतभूपतिः स्वयम् ॥४३॥
यदि शक्तिरिहास्ति ते प्रभोः परिगृह्णातु तदा तु तान्यपि ।
परमेष विलोलजिह्वया कपटी भापयते जगज्जनम् ॥४४॥
अ नग कृति योऽस्य लक्षण कितवस्याधिपतेः सखे ? तव ।
सपरिच्छदमेव तत्क्षणात् सुखमुन्मूलयतीममेष सः ॥४५॥
तव दूत ! पतिः मकोऽधुना विनिवार्यो भवता कदाग्रहात् ।
चरणोत्कटसैन्यपावके भविताय शलभोऽन्यथा ध्रुवम् ॥४६॥
इति सयममन्त्रिणोदिते रिपुदूतः पुनरब्रवीदिदम् ।
मम चेतसि भासतेतरां चरण ! त्वं सपरिच्छदः कुधीः ॥४७॥
यदवाचि मया हितं वचः ननु युष्मासु बभूव तत्कुधे ।
तदिदं खलु सत्यमेव यन्नहि कार्या हितदेशना जडे ॥४८॥

क्व स मोहनृपो भटाग्रणीः क्व भवानेष च कातराग्रणीः ।
विविनक्ति मदान्धलोचनो न परं स्वेतरयोर्बलाबलम् ॥४९॥
मम नाथभटैः स्वलीलया तव भग्नाः शतशो यदाश्रयाः ।
किमियं तव शूरता सखे ! पितृसद्मोपगताभवत्तदा ॥५०॥
किमिदं तव विस्मृतं सखे यदसौ पूर्वभवेषु नेमिराट् ।
मम भूमिभुजात्मसात्कृतः परिनिर्वाद्य भवन्तमागतम् ॥५१॥
अपसार्य भवन्तमग्रतस्तव पात्राणि कदर्थितान्यहो ।
मयका स्वपतिप्रसादतः स्मरसीद स्मरणैकपण्डित ॥५२॥
क्षयमेष्यसि संयमाल्पधीरवजानन्मम नाथमुत्कटम् ।
प्लवगस्य पराभवो ध्रुवं मृगनाथे मरणैकहेतवे ॥५३॥
इति कर्कशमस्य भाषितं भृशमाकर्ण्य चरित्रसैनिकाः ।
कुपिताः कुमतं गले दृढं किल धृत्वा निरकाशयन् बहिः ॥५४॥
विहितं रिपुभिः स्वधर्षणं[२] स च गत्वा नृपमोहपर्षदि ।
निजगाद समस्तमुच्चकैर्व्रतभूपालबलं प्रकाशयन् ॥५५॥
कुपितोऽथ रणाय सोद्यमः स्वभटानाह्वयति स्म मोहराट् ।
बलिनो खलु मानशालिनो विषहन्ते न रिपोः पराभवम् ।५६।
परिमील्य ततो मदोद्धतं बलमात्मीयमशेषमादृतः ।
चरणेन समं रणोत्सवं प्रचिकीर्षुः प्रचचाल मोहराट् ॥५७॥
पुरतोऽथ मम द्विषो महाभटानामभिधां गृहाण भोः ।
इति पृष्ट उवाच संयमक्षितिपालेन सुबोधधीसखः ॥५८॥
शृणु नाथ ! तव द्विषो बले कुमताख्यः सुभटो महाबलः ।
कपटैर्विविधैर्विचेष्टितैः सकलं येन विडम्बितं जगत् ॥५९॥
अमुनैव जनाः प्रतारिता ननु लिङ्गं प्रणमन्ति केचन ।
अपरे मुमुचुः कुटुम्बकं वपुरर्चन्ति च केऽपि भस्मना ॥६०॥

---

२. यशो. मा. स्वधर्षणं

पुरुष-प्रमदारथाश्रयाः विषयाः पंच परे महाभटाः ।
अवमन्य भवन्तमीश्वरं निखला यैर्जनता विगोप्यते ॥६१॥
रिपुमोहसुतः क्रुधाभिधोऽरुणतावेपथुतापलक्षणः ।
उदितः स शिखीव देहिनां लघु भस्मीकुरुते गुणेन्धनम् ॥६२॥
परनिन्दनतत्परः परस्तनयोऽस्यैव हि माननामकः ।
तृणवन्मनुते जगत्त्रयं स्वगुणैरेष समुन्नतः सदा ॥६३॥
मधुरां भुवनप्रतारिणीं शठतां मोहसुतां विलोकसे ।
यदपीममहो निहन्यते तदपि स्त्रीवधजं न पातकम् ॥६४॥
समुदेति च येन जीवता क्षपितोऽपि द्विषतोऽन्वयस्त्वया ।
त्रिजगत्यपकारकारकं ननु लोभाह्वमवेहि तं भटम् ॥६५॥
इह यास्ति विपक्षमध्यगा विकथैका सुभटी चतुर्मुखी ।
अनया बहु खेदिता भटास्तव सद्बोधसदागमादयः ॥६६॥
प्रतिपक्षमहीभुजः परं प्रतिकूलो विधिरद्य वर्तते ।
करमध्यग एव तेन ते विजयो नाथ न चात्र संशयः ॥६७॥
वदतीति सुबोधमन्त्रिणि स्फुटमेवं तुमुलः समुत्थितः ।
त्वरितं प्रगुणीभवन्तु भोः सुभटा शत्रुचमूः समागमत् ॥६८॥
मुदिताश्चरणेशसैनिका जगृहुर्वर्म ततश्च सोद्यमाः ।
प्रथमं बहुशः प्रबुध्यते मन आगामिशुभाशुभं कदा ॥६९॥
अवलोक्य पुरो द्विषां बलं मम भावी विजयोऽधुना न वा ।
इति मोहमहीभुजोदितो गणकः स्माह मनोऽभिधस्तदा ॥७०॥
गहनं ननु दैवचेष्टितं नहि सम्यक् तदिनावधार्यते ।
शकुना न शुभा भवन्ति भो विजयस्तेन तवाद्य दुर्लभः ॥७१॥
अथ सस्मितमाह मोहराट् स्खलितस्त्वं गणकब्रुवाबुध ।
यदि मेरुरपांनिधिं तरेन्न भवेत्तर्ह्यपि मे पराजयः ॥७२॥
गणयंस्तृणवद्रिपून् मदात् कुपितो मोहमहीपतिस्ततः ।
समराय समुत्थितो रयात् सह रागादिकदण्डनायकैः ॥७३॥

उपसर्गगजाः पुरस्कृता मदहास्यादिहयाः प्रणोदिताः ।
चलिता विषया महारथा अभिमानादिभटाश्च सज्जिताः ।७४।
क्षुभिताम्बुधिसन्निभं तदा प्रबलं मोहबलं सुदुःसहम् ।
अवलोक्य चरित्रभूभुजः परिलग्नाः सुभटाः प्रकम्पितुम् ।७५।
उदिता बलशालिना ततः सुभटास्तत्त्वविमर्शमन्त्रिणा ।
मा भैष्ट भवेत[3] सुस्थिता ननु धीरैः क्रियते द्विषज्जयः ॥७६॥
विकलांगधरोऽपि तापनं यमवप्तारमपि प्रभापतिम् ।
ग्रसते ननु सिंहिकासुतो नियतं सत्त्ववशा हि सिद्धयः ॥७७॥
प्रहिनस्ति यथा मृगाधिपो ध्रुवमेकोऽपि शतानि हस्तिनाम् ।
न तथा यदि मोहसैनिकान् निखिलान् हन्मि न तर्हि पूरुषः।७८।
रणतूर्यरवे समुत्थिते भटहक्कापरिगर्जितेऽम्बरे ।
उभयोर्बलयोः परस्परं परिलग्नोऽथ विभीषणो रणः ॥७९॥
बलयोरितरेतरं तयोर्जयभङ्गौ बहुशो वितन्वतोः ।
त्वरितं त्वरितं खगीव सा जयलक्ष्मीर्भ्रमति स्म मध्यगा ।८०।
चरणेशभटैर्बलोत्कटैः कुपितैर्ब्रह्मभिदाग्रचयष्टिभिः[4] ।
प्रविदारितमस्तकः स्मरः सह पत्न्याथ पपात निस्सहः ॥८१॥
प्राणिधानभटेन जिष्णुना शुभलेश्यागदया गरिष्ठया ।
बहवः परिचूर्णितास्ततः कणशो मोहमहीपतेर्भटाः ॥८२॥
मम वा चरणाधिपस्य वा प्रलयोऽद्येति विनिश्चयस्ततः ।
समराय समुत्थितः स्वयं नृपमोहः सह लोभसैनिकैः ॥८३॥
विशदाध्यवसायमुद्‌गरैर्बलवान् संयमभूपतिस्ततः ।
रयतोऽभिसरन्तमेव तं सहसाहत्य चकार खण्डशः ॥८४॥
संश्लाघ्यमानोऽथ नरामरेन्द्रैश्चारित्र्यराजः सुमवृष्टिपूर्वम् ।
स्वसैन्ययुक्तः परमोत्सवेन विवेश नेमीश्वरराजधान्याम् ॥८५॥

---

३. भवत इति साधीयान्

४. ब्रह्मभिदाग्रयष्टिभिः इति श्रेयान्

श्रीमन्नेमेरथ निरुपमे केवलज्ञानदृष्टी
निर्व्याघाते समुदलसतां घातिकर्मक्षयेण ।
लोकालोकौ सततमखिलौ यत्प्रभावेण जीवो
नित्यं हस्तामलकफलकवद् बुध्यते वीक्षते च ।।८६।।

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये मोहसंयम-युद्धवर्णनो नामैकादशः सर्गः ।

## द्वादशः सर्गः

कलधौतहेममणिशालमध्यगं सुरसंघनिर्मितमृगेन्द्रविष्टरम् ।
श्रितवान् रराज भगवानथासितः कनकाद्रिशृंगमिव नव्यनीरदः ॥१॥
भगवन्तमाप्तवरकेवलं ततः परिगम्य हर्षजलधिर्विवत्रन्दिषुः ।
निरगाज्जवाद्यदुपतिः सनागरो नहि धर्मकर्मणि सुधीर्विलम्बते ॥२॥
प्रचलन् पथि प्रणयपूर्णमानसः पुरकाननप्रभृतिदर्शनोन्मुखीम् ।
नगरीजनः प्रियतमां निजामिदं वचनं कराभिनयपूर्वमब्रवीत् ॥३॥
विविधद्रुमं गुपिलवल्लीमण्डपं सफलं सुगन्धि सुमनोमनोरमम् ।
बहुभिर्विहंगमकुलैर्निषेवित प्रविलोकयेः सुतनु ! पावनं वनम् ॥४॥
मदमत्तभृंगपिकयोषितां रवैरपि[1] वाततुन्नदलहस्तसंज्ञया ।
अयमाह्वयन्निव फलार्थिनं जनं सहकारवृक्ष इह लक्ष्यते प्रिये ॥५॥
उपरि भ्रमद्भ्रमरमण्डलैरसौ कथिताग्र्यगन्धमहिमापरद्रुमान् ।
तरलैर्दलैः स्फुटमधः क्षिपन्निव प्रसृताक्षि ! केतकीतरुर्विलोक्यताम् ॥६॥
शिशिराः परोपकृतिहेतवे सदा दधतोऽपि जीवनमनाविलं बहु ।
विदितास्तथापि च जडाशया अमी सुकृतैर्यशो नियतमाप्यते प्रिये ॥७॥
शुकशारिकाद्विकपिकादिपक्षितः परिरक्ष्ययमाणमभितः कृषीवलैः ।
प्रसमीक्ष्यतां स्वफलभारभंगुरं परिपक्वशालि वनमायतेक्षणि ॥८॥
पवमानचंचलदलं जलाशये रवितेजसा स्फुटदिदं पयोरुहम् ।
परिशंक्यते बत मया तवाननात् कमलाक्षि ! बिभ्यदिव कम्पतेतराम् ।९।
गुडशर्कराजनक इक्षुदण्डकः परमं रसं वहति यद्यपि प्रिये ।
अधरस्तथापि च तवाधरादतिभूषणाद्[2] भवति नीरसो यतः ॥१०॥

---

१. वि. मा. रवैरयं

२. यशो. मा., वि. मा. तवाधरादसावपि भूषणाद्

कलगीतिनादरसरङ्गवेदिनो हरिणा अमी हरिणलोचने ! वने ।
सह कामिनिभिरलमुत्पतन्ति हे परिपीतवातपरिणोदिता इव ॥११॥
अपहाय भोजतनयां पतिव्रतां स्वजनं च राज्यमपि रेणुवद् वशी ।
विजहार यत्र तप आचरञ्जिनः सक उज्जयन्तगिरिरेष वल्लभे ॥१२॥
सहकार एष खदिरोऽयमर्जुनोऽयमिमौ पलाशबकुलौ सहोद्गतौ ।
कुटजावमू सरल एष चम्पको मदिराक्षि! शैलविपिने गवेष्यताम् ॥१३॥
इदमंग ! पश्यसि पुरो विभास्वरं भुवनाधिपस्य विशदं सभागृहम् ।
उपदर्शयद्भिरिह भक्तिमात्मनः परमां व्यधायि मुदितैः सुरासुरैः ॥१४॥
वपुरंशुभासितसमस्तदिक्तटाः शुचिदिव्यभूषणधराः सह प्रियैः ।
त्रिजगद्गुरोः सदसि संजिनूपुराः[1] प्रविशन्ति पत्नि ! सुरनायिका अमूः॥१५॥
दयिताम्य उत्तमममी नवं पथि दर्शयन्त इति वस्तु नागराः ।
सह माधवेन परिवारराजिना सद आसदन् झटिति पारमेश्वरम् ॥१६॥
परिहृत्य वाहनमथ प्रमोदमागवलोकयन्निह विरोधवर्जितान् ।
सकलान् पशूनपि सविस्मयः सपरिच्छदोऽविशदसौ सभां विभोः ॥१७॥
त्रिदशैर्जिनेशतरि भक्तिमद्भुतां परिदर्शयद्भिरभिवृष्टमुत्तमम् ।
शुचिजानुदघ्नमभितः सभांगणे बहुवर्णपुष्पनिकरं बहु स्तुवन् ॥१८॥
विदधन्निजश्रवणगोचरं मुदा कलदेवदुन्दुभिनिनादमुच्चकैः ।
परमां च तीर्थंकरनामकर्मजां जिननायकर्द्धिमभिवर्णयन् मुहुः ॥१९॥
मणिमौक्तिकप्रकरजालभास्वदातपवारणत्रितयमिन्दुसुन्दरम् ।
स ददर्श तत्र शिरसि प्रभोर्धृतं भुवनत्रयाधिपतिताभिसूचकम्॥२०॥विशेषकम्
शुचिराजहंसयुगलान्तरालगं स्मितपंकजातमिव सुन्दरं ततः ।
चलचामरद्वितयमध्यवर्ति तत् त्रिजगद्गुरोर्वदनमैक्षताच्युतः ॥२१॥
परमां विलोक्य विभुरूपसम्पदं त्रिजगद्गतां शुचिपदार्थसंहतिम् ।
बहुशः स्मरन्नपि मनोऽन्तरादराद् उपमानमाप न किमप्यसौ सुधीः॥२२॥

---

१. यशो. मा., वि. मा. शकिनूपुराः

विशदांशुमन्तमिव तेजसां निधिं शशिबिम्बतोऽप्यधिकसौम्यदर्शनम् ।
नवमेघवच्छुभगमूर्तिमीश्वरं मुरजिन्निरीक्ष्य हृदि पिप्रियेऽधिकम् ॥२३॥
प्रथमं विधाय विधिना प्रदक्षिणां गणयन्[4] स्वजन्म सफलं च जीवितम् ।
अथ माधवो विनयभक्तिवामनः[5] प्रणनाम नाथपदपंकजद्वयम् ॥२४॥
प्रणमत्सुरेश्वरकिरीटकोटिगानणरत्नघृष्टचरणाम्बुजन्मनः ।
रचितांजलिर्भगवतोऽथ केशवः स्तवनं विधातुमिति च प्रचक्रमे ॥२५॥
भगवंस्तवाननशशांकदर्शनात् प्रथमाभवत्सफलताद्य नेत्रयोः ।
उपजायते स्म भुवनत्रयीप्रभो ! भववारिधिश्चुलुकमात्र एषः ॥२६॥
अमृत क्षरन्तमिव सौम्यया दृशा करुणाम्बुधिं परमसंविदां निधिम् ।
भगवन् ! भवन्तमवलोकयन्नयं परितोषमेति परमं जनार्दनः ॥२७॥
किल माति विश्वमिदमच्युतोदरे सुखमत्र येति जनगीर्जिनेश्वर ।
तव देव ! दर्शनजया मुदानया वितथा व्यधाय्यपरिमातयाद्य सा[6] ।२८।
विसृजन्ति वैरमिह सर्ववैरिणो जिनपर्षदीति जगतोच्यते प्रभो ।
पुरतस्तवैव पुनरान्तरद्विषो भविको निहन्ति तदिद महाद्भुतम् ॥२९॥
भगवन् ! विभाति तव पृष्ठगो ह्यसौ नवपल्लवः सरसचैत्यपादपः ।
परिवर्त्य रूपमिह सेवनोद्यतो विभुदाननिर्जित इवामरद्रुमः ॥३०॥
नेतर्न[7] ते नेतुमलं सुरांगना मनो विकारं कठिनस्तना अपि ।
शुच्यंगहारा पृथुलास्यकान्तयः शुच्यंगहाराः पृथुलास्यकान्तयः ॥३१॥
कोटिः सुराणां च जघन्यतोऽपि सदैव तिष्ठेत्समया भवन्तम् ।
त्वां सेवते यः[8] पुनरीश । लक्ष्मीर्भजेत्मुबुद्ध्यासमयाभवं तम् ॥३२॥

---

४. यशो मा. गणाय

५. यशो. मा., वि. मा विनयभक्तिमानदः

६. महि. अनृता व्यधाय्यपरिमातयाद्य सा तव देव ! दर्शनजया मुदानया

७. यशो. मा., वि. मा. नेतुर्न

८. वि. मा. यस्पुनरीश

पुण्य ! कोपचयदं नतावकं पुण्यकोपचयदं न तावकम् ।
दर्शनं जिनप ! यावदीक्ष्यते तावदेव गदःदुःस्थतादिकम् ॥३३॥ *
तदनन्तरमामयं समं प्रथम मोहरिपुं विभिन्धि मे ।
तदनन्त-रमामयं समं प्रमया देहि पदं कृपामय ॥३४॥ **
तव यशोऽप्सरसः कुलशैलगा जिन । जगुर्मुनिवत्परमाक्षरम् ।
परभृताभरणाः सुरसं गतां परभृताभरणाः सुरसगताः ॥३५॥ ‡
स्तवीति यस्त्वां जिनराज ! लक्ष्म्याकरोऽतिकान्त ! प्रतिभाति सारम्।
पुमान् स विश्वे[६] च सरस्वती तं करोति कान्तप्रतिभातिसारम् ॥३६॥
अतीतान्तेत एतां ते तन्तन्तु ततताततिम् ।
ऋततां तां तु तोतोत्तु तातोऽततां तातोन्ततुत् ॥३७॥एकव्यञ्जनः॥‡‡

---

* अत्र टीका—पुण्यमस्यास्तीति सम्बोधनपदम् । कोपस्य चयं वृद्धिं द्यति खण्डयतीति तत् । नतानां प्रणतानां रक्षकम् । पुण्यस्य कस्य सुखस्य चोपचयं वर्धनं ददातीति तत् ।

** अत्र टीका—प्रथमं समं सदृशं युगपद्वा । मे आमयमुपताप मोहरिपुं ·· च विभिन्धि । तदनन्तरं ततः प्रमया यथार्थज्ञानेन समं सार्धम् अनन्तया रमया लक्ष्म्या प्रधानं तदपूर्वं पदं देहि ।

‡ अत्र टीका—पराण्युत्कृष्टानि भृतानि धृतान्याभरणानि मण्डनानि याभिस्ताः । सुष्ठु सुन्दरं रसं भक्तिरसं गताः । परभृतानां पिकानामाभस्तुल्यो रणः शब्दो यासां ताः । सुरैरमरै संगताः सहिताः ।

६. यशो. मा., वि. मा. विश्वेश ।

‡‡ अत्र टीका—अतीतोऽतिक्रान्तोऽन्तः मुखं दुःखादेरसत्त्वं येन सः, मोक्ष इत्यर्थस्तमितः प्राप्तः । तता विस्तृता या ता लक्ष्मीस्तस्यास्ततिः समूहस्ताम् । तु पुनस्ते तव ऋततां सत्यतां तन्तन्तु पुनः पुनरतिशयेन वा तनोतु । ततः अनन्तरं । अन्तं कालं मोहादिकं वा तुदति पीडयति यः सः । न ता लक्ष्मीस्तस्या भावस्तां दरिद्रताम् । ··· ···· तोतोत्तु भृशं तुदतु ।

तुद मे ततदम्भस्त्वं त्वं भदन्ततमेद तु ।
रक्ष तात विशामीश शमीशावितताक्षर ॥३८॥ अनुलोमविलोमात्मकः ।‡
लुलल्लीलाकलाकेलिकीला केलिकलाकुलम् ।
लोकालोकाकलंकालं कोकिलालिकुलालका ॥३९॥
भवता भवता विश्वं नीरागेण बतावता ।
मुक्ता मुक्तालतायुक्ता कान्ता कान्ता जगद्गुरो ।४०। द्व्यक्षरानुप्रासः।*
महामदं भवारागहरिं विग्रहहारिणम् ।
प्रमोदजाततारेनं श्रेयस्करं महाप्तकम् ॥४१॥ **
महाम दम्भवारागहरिं विग्रहहारिणम् ।
प्रमोदजाततारेनं श्रेयस्करं महाप्तकम् ॥४२॥ ‡‡
इति भक्तिरागवशगेन चेतसा विनुतिं विधाय विरतेऽथ माधवे ।
जिननेमिरारभत धर्मदेशना ममृतोपमां सकलसंशयापहाम् ॥४३॥

---

‡ अत्र टीका — ईर्लक्ष्मीस्तां ददातीदस्तस्य सम्बुद्धौ हे ईद ! भदन्ततम पूज्यतम ।....आ समन्ताद्विततं विस्तृतमक्षरं ज्ञानं यस्य सः तत्सम्बुद्धौ ।

* अत्र टीका—विश्वं संसारं भवता लभमानेन पुनस्तदवता रक्षता । .. . केलेः क्रीडायाः कलया आकुलं यथा स्यात्तथा । लुलन्ती शोभमाना या लीला तस्या या कला नैपुण्यं तस्यास्तया वा केलिषु क्रीडासु कीला वह्निज्वालारूपा ।

** अत्र टीका—महाश्चासावामो रोगस्त द्यति खण्डयतीति स, तम् । भवे संसारेऽरीणां समूहमारमेवागः पर्वतस्तस्मिन् हरिरिन्द्रस्तम् । विग्रहेण हारिणं सुन्दरम् । ... ... प्रमा यथार्थज्ञानानि ता एवोद-जातानि कमलानि तेषु तारः प्रौढः इनः सूर्यस्तम् ! आप्तः प्राप्तः कं सुखं यस्तम् । श्रेयस्करं मंगलकर्त्तारं मह पूजय ।

‡‡ अत्र टीका—दम्भस्य कपटस्य वाराः समूहा एवागा वृक्षास्तेषु हरिः पवनस् तम् । .......... विग्रहः कलहस्तं हरति नाशयति यस्तम् । ... .... प्रकृष्टो मोदस्तस्य जातं समूहस्तत्र ताराणामुडूनामिनः स्वामी चन्द्रस्तम् । श्रेयो मंगलं कं सुखं च राति ददाति यस्तम् । महांश्चा-सावाप्त ईदृशं भगवन्तं नेमिजिनं महामः पूजयामः ।

दिवसो यथा नहि विना दिनेश्वरं सुकृतं विना न च भवेत्तथा सुखम् ।
तदवश्यमेव विदुषा सुखार्थिना सुकृतं सदव करणीयमादरात् ॥४४॥
सुकृतात्सदैव वशवर्तिनीन्दिरा सुकृताद्यशांसि विसरन्ति[१०] भूतले ।
सुकृताद् भवन्ति सकलार्थसिद्धयः सुकृतात्पदं परममवाप्यते खलु ॥४५॥
गद आपदिष्टविरहो दरिद्रता विभवक्षयो रिपुपराभवः सदा ।
परगेहकर्मकरता दुराधयो भविनां भवन्ति भुवि पातकोदयात् ॥४६॥
विघटते स्वजनश्च सुहृज्जनो विघटते च वपुर्विभवोऽपि च ।
विघटते नहि केवलमात्मनः सुकृतमत्र परत्र च संचितम् ॥४७॥
इत्यादि नेमीश्वरधर्मदेशनां पारं भवाब्धेस्त्वरितं यियासवः ।
श्रुत्वा व्रतं केऽपि जनाः प्रपेदिरे गृहस्थधर्मं मुदिताश्च केचन ॥४८॥
उत्थाय नत्वाथ जिनाधिनाथ- मित्युग्रसेनाङ्गभुवा जगाद ।
प्रसीद कृत्य दिश विश्वनाथ ! विधेहि नित्य सहवासिनीं[११] माम् ॥४९॥
ततो जिनेन्द्रः करुणार्द्रचित्तो विधाय चारित्ररथाधिरूढाम् ।
तां प्राहिणोत् सिद्धिपुर पुरं तद् यियासित[१२] निर्मलमात्मना यन् ॥५०॥
अमितभविकलोकं तारयित्वा भवाब्धेः
प्रभुरपि सुरभृत्यामार्हतर्द्धि च भुक्त्वा।
परमपदमयासीत्क्षीणनिःशेषकर्मा
मिमिलिषुरिव सद्यः सौवपूर्वप्रियायाः ॥५१॥

तत्रानन्तं विगमरहित शाश्वतानन्दरूपं,
सौख्यं भुंक्ते त्रिभुवनगुरुस्तच्छरीरादिमुक्तः[१३] ।
पिण्डीभूतं मनुजमरुतामप्यशेषं समन्तात्,
सौख्यं यन्नो तुलयितुमलं दूरमुक्तोपमानम् ॥५२॥

काव्याभ्यासनिमित्तं श्रीनेमिजिनेन्द्रचरितपरि तम् ।
श्वेताम्बरेण रचितं काव्यमिदं कीर्त्तिराजेन ॥५३॥

इति श्रीकीर्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये द्वादशः सर्गः ।

---

१०. यशो. मा., वि. मा. विचरन्ति ११. यशो. मा., वि. मा. सहचारिणीं
१२. वि मा. यियासितु १३. यशो. मा., वि.मा. त्रिभुवनगुरुर्यच्छरीराविमुक्तः

# नेमिनाथमहाकाव्यम्

## हिन्दी अनुवाद

卐

# प्रथम सर्ग

मैं प्रभु नेमिनाथ के उन शोभा-सम्पन्न चरणों को नमस्कार करता हूँ, जिनकी देवताओं के अधिपति (इन्द्र) इस प्रकार सेवा करते थे, जैसे भौंरे कमल का सेवन करते हैं ।१।

दुराग्रहों से मुक्त तथा सदा ज्ञानादि समस्त कलाओं से युक्त गुरुदेव, नवीन चन्द्रमा के समान संसार में चिरकाल तक विजयी रहें ।२।

जो मुनिराज नाना प्रकार के आलिंगन तथा आनन्द देने में चतुर नारी को छोड़कर वैमी (अर्थात् विविध श्लेषालंकारों और रसों से समृद्ध) वाणी बोलते हैं, वे पूजनीय क्यों नहीं ?।३।

उस सज्जन रूपी चन्द्रमा को नमस्कार, जो निर्मल होता हुआ भी स्वयं को दोषों की खान कहता है किन्तु (गुणों से) संसार को पवित्र बनाता है । (चन्द्रमा दोषाकर-निशाकर-होकर भी अपनी कान्ति से जगत् को प्रकाशित करता है )।४।

सुख चाहने वाले बुद्धिमान् लोग; सारहीन, पशुओं के भोजन के लिए उपयुक्त तथा तैलरहित खल के समान निस्सार, पशुतुल्य तथा नीरस दुष्ट को दूर से ही छोड देते हैं ।५।

ग्रन्थ के आरम्भ मे सज्जन और असज्जन दोनों को नमस्कार करना चाहिये क्योंकि इन दोनों के मिलने से ही गुणो और दोषों का विवेचन होता है ।६।

कहाँ नेमिप्रभु की स्तुति और कहाँ मेरी यह कुण्ठित बुद्धि ? मैं अज्ञानवश तर्जनी से पर्वत उखाड़ना चाहता हूँ ।७।

किन्तु गुरु की कृपा से मन्दबुद्धि भी बुद्धिमान् बन जाता है । सिखाने पर तोता, पक्षी होता हुआ भी, मनुष्य की भाषा में बोलने लगता है ।८।

अथवा प्रभु की भक्ति ही मुझ जड़बुद्धि को बरबस मुखर बना रही है, जैसे बादल की गर्जना सुनकर मोर कूकने लगता है ।९।

पृथ्वी के मध्य भाग में प्रसिद्ध जम्बूद्वीप है, जो नारी की नाभि के समान गम्भीर तथा गोलाकार है ।१०।

आश्चर्य है, वह अनादि तथा अमर होता हुआ भी छह वर्षों (वर्ष पर्वतों) से युक्त है । यद्यपि वह विस्तार में लाख योजन है, तथापि उसमें असंख्य लोग रहते हैं ।११।

चारों ओर पास में लवण-सागर से घिरा हुआ वह ऐसा सुन्दर लगता है, जैसा अपनी परिधि से युक्त वर्तुलाकार चन्द्रमा १२।

उसमें (जम्बूद्वीप में), आकार में धनुष के समान भारतवर्ष है, जो, मैं समझता हूँ, अपने सौन्दर्य के अहंकार के कारण अचानक टेढ़ा हो गया है ।१३।

चाँदी के वैताढ्य पर्वत से दो भागों में बंटा हुआ वह ऐसे शोभा पाता है जैसे सुन्दर मांग से नारी का सिर ।१४।

गङ्गा और सिन्धु नदियों के योग से उसके छह खण्ड बन गये थे । अथवा स्वच्छन्दता पाकर स्त्रियाँ किसे खण्डित नहीं कर देतीं ?।१५।

उसमें अतीव शोभाशाली सूर्यपुर नाम का नगर था, जो मानों पृथ्वी का सर्वस्व हो, जैसे कुलवधू के लिए उसका पति ।१६।

उस नगर में कोई व्यक्ति मन्द (मूर्ख) नहीं था, यदि कोई मन्द था, वह था (शनि) ग्रह । न वहाँ पति-पत्नी का वियोग होता था, केवल वन में वियोग (पक्षियों का मिलन) था ।१७।

वहाँ अन्य शत्रुओं का अभाव होने के कारण केवल (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि) आन्तरिक शत्रुओं का वध किया जाता था । राजा के न्यायशील होने के कारण वहाँ धर्मात्माओं का अभ्युदय था ।१८।

वहाँ लोग लज्जा से शरीर अवश्य ढकते थे, परन्तु कोई विकलेन्द्रिय और कुरूप नहीं था । वहाँ की स्त्रियाँ सदा माला धारण करती थीं, उन्हें पीड़ा कभी नहीं होती थी ।१९।

वहाँ धनी लोगों के रत्नों से खचित तथा दधिपिण्डों के कारण सफेद भवन हिमालय के शिशुओं (लघु पर्वतों) के समान लगते थे ।२०।

वहाँ विटों के साथ मैथुन करने से थकी हुई वेश्यायें, जिनके स्तनों से चोली गिर गयी है, साँपिनों की तरह, देखने मात्र से लोगों को विचलित कर देती थीं। (सांपिनें भी सांपों के साथ सम्भोग से थक जाती हैं और उनकी केंचुली उतर जाती है) ।२१।

वहाँ युवकों के गाढालिंगनों से टूटते हारों वाली नारियाँ, ऊपर गिरते हुए मोती रूपी चावलों से मानों काम का अभिनन्दन करती हैं ।२२।

वहाँ सुन्दर प्रेयसियों के अनुराग को बढ़ाने वाला युवकों का परोपकारी पवित्र यौवन, प्रचुर अनाज से भरे तथा सुन्दर बालियों और वृक्षों को उत्पन्न करने वाले खेत के समान था ।२३।

भोगियों (विलासी, सर्प), पुण्यजनों (पवित्र लोग, राक्षस) तथा श्रीदाताओं (दानी, कुबेर के वहाँ रहने के कारण वह श्रेष्ठ नगर पाताल, लङ्का और अलका का सङ्गम-सा बन गया था ।२४।

वहाँ अपनी साध्वी पत्नियों का आलिंगन करने के अभिलाषी युवक, परायी स्त्रियों को गले लगाने को उत्कण्ठित दुष्टों की तरह, असाधारण (उग्र) झगड़ों से क्रीड़ा-केलि को दूषित नहीं करते ।२५।

वहाँ घुंघरूओं के शब्द के बहाने लोगों को पुण्य के लिये प्रेरित करती हुई-सी विहारों की ध्वजायें चारों ओर फहराती हैं ।२६।

विविध वस्तुओं से भरी हुई तथा नगरवासियों को विभिन्न प्रकार से आनन्दित करने वाली हाटों की पंक्ति राजद्वार तथा गोपुर तक शोभायमान है ।२७।

वहाँ राजाओं के, बिलौर की भीतों वाले महल ऐसे सुन्दर लगते थे मानों वे चन्द्रमा की किरणों से मिश्रित तथा हिमपिण्डों से निर्मित हों ।२८।

वहां जलरूपी लावण्य से भरी गहरी वर्तुलाकार बावड़ियाँ कामिनियों की नाभियों के समान सुन्दर लगती थीं।२६।

रंग-बिरंगे पत्थरों से शोभित उसका गोलाकार परकोटा इस प्रकार सुन्दर लगता था मानों वह पृथ्वी-देवी का कुण्डल हो।३०।

उसके उद्यान में कामिनियों के समान कोमल लताएं, फूलों से लदी हुई भी, वृक्षों का आलिंगन करती थीं, यह आश्चर्य की बात है। (स्त्रियाँ रजस्वला होती हुई भी युवकों का आलिंगन करती थी)।३१।

वहाँ दरिद्र लोग कठिनाई से शीतल रात से आकाश छुड़वाते थे (ठण्डी रात कष्टपूर्वक बिताते थे) और युवक(प्रथम समागम के समय) बड़ी कठिनाई से नववधू को अधोवस्त्र खोलने को तैयार करते थे।३२।

उसके समीप गणिका के समान एक नदी शोभा पाती थी, जिसका जल सांप पीते थे तथा जो अपने वेणी-तुल्य जल-प्रवाह से नगरवासियों को मोह लेती थी। (गणिका को विट भोगते हैं और वह अपनी सुन्दर वेणी से नागर जनों को आकर्षित करती है)।३३।

उस नगर के रमणीय महलों का सौन्दर्य तथा परकोटे की शोभा अपूर्व थी। उसे देख कर कौन सिर नहीं हिलाता?।३४।

वहाँ के राजा समुद्रविजय का नाम यथार्थ था क्योंकि उसने समुद्र तक समूचे शत्रुओं को जीत लिया था।३५।

उसने शत्रुओं की लक्ष्मी के साथ पिता के सिंहासन को ग्रहण किया और उनके (वैरियों के) पराक्रम के साथ याचकों की दरिद्रता को हर लिया।३६।

बाणों से अन्य राजाओं को डराने वाला, स्त्रियों के लिये दर्शनीय तथा युद्ध में शत्रुओं की निपुणता को हरने वाला वह, सींगों से बैलों को भीत करने वाले, गायों के लिए दर्शनीय प्रचण्ड साण्ड के समान था।३७।

समस्त राजलक्ष्मियाँ अन्य राजाओं के राज्यों से उसके पास ऐसे आ गयीं जैसे कन्याएं, विवाह होने पर, पिताओं के घरों से अपने पति के पास आती हैं ।३८।

उसकी शक्ति विभूति के समान थी, कार्य शक्ति के अनुरूप था, प्रसिद्धि कार्य के बराबर थी, कीर्त्ति ख्याति के अनुकूल थी, रूप कीर्त्ति के तुल्य था, अवस्था रूप के समान थी किन्तु बुद्धि उम्र से अधिक थी ।३९-४०।

उस तेजस्वी को विपक्षी कठिनाई से देख सकते थे, किन्तु पक्षधरों (हितैषियों) के लिये वह दर्शनीय ही था । इस प्रकार वह सूर्य के समान था, जिसे चकवे तो देख सकते हैं, उल्लू नहीं ।४१।

वह राजा पवित्र जैन धर्म को प्राण, धन तथा पत्नी से भी अधिक प्रिय समझता था ।४२।

केवल क्षमा नपुंसकता है और केवल प्रचण्डता विवेकहीनता है, अतः वह दोनों के समन्वय से ही कार्य की सफलता मानता था ।४३।

जब वह पृथ्वी की रक्षा कर रहा था तब मेघ समय पर बरसता था, पृथ्वी रत्न उपजाती थी और लोग चिरकाल तक जीवित रहते थे ।४४।

वह कंजूसी के कारण नहीं अपितु मर्यादा के लिये धन का संग्रह करता था और राजनियम के कारण प्रजा से कर लेता था, लोभ से नहीं ।४५

पृथ्वी का रक्षक, सुन्दर शरीर, विपक्षी सेना के वध तथा विजयी सेना का स्वामी होने के कारण वह देवराज इन्द्र की बराबरी करता था । ( इन्द्र स्वर्ग का रक्षक देव, है और बल नामक दैत्य का वधकर्ता तथा इन्द्राणी का पति है ) ।४६।

उस राजा ने ( अपने राज्य में ) न्यायप्रिय, बुद्धिमान् तथा शास्त्रज्ञों में अग्रणी मन्त्रियों को नियुक्त किया जैसे अच्छा गुरु प्रतिभाशाली छात्रों को ग्रहण करता है ।४७।

वह अकेला भी समूचे संसार को जीत लेता था, सेना के साथ होने पर तो कहना ही क्या ? शेर अकेला भी बलवान् होता है, कवच पहनने पर तो बात ही क्या ?।४८।

उस प्रचण्ड राजा के अभ्युदय को प्राप्त होने पर (सिंहासनासीन होने पर) अन्य राजा इस प्रकार परास्त हो गये जैसे सूर्य के उदित होने पर नक्षत्रों का तेज नष्ट हो जाता है ।४९।

उस न्यायी के राज्य में विवाह में पाणिपीडन होता था, नगरवासी करों ( टैक्सों) से पीड़ित नहीं थे ।५०।

वह तीनों वर्गों ( धर्म, अर्थ, काम ) की सिद्धि में, उनमें आपस में बाधा न डालता हुआ, ऐसे प्रवृत्त हुआ जैसे तीनों लोकों के निर्माण की प्रक्रिया में ब्रह्मा ।५१।

वह वैरी राजाओं के लिये वज्र के समान था किन्तु अपने चरणों के सेवकों के लिये कल्पवृक्ष के समान था ।५२।

न्याय और अन्याय का विचार करने में वह राजा ही चतुर था। पानी और दूध को अलग करने में हंस की ही प्रशंसा की जाती है ।५३।

वह समस्त नीतियों से शुद्ध तथा समृद्ध राज्य को इस प्रकार भोगता था, जैसे बराबर स्तनों के युगल से युक्त कामिनी की काया को कामी ।५४।

रूप एवं सौन्दर्य से सम्पन्न उसकी शिवादेवी नामक सहधर्मिणी साक्षात् जयलक्ष्मी के समान थी ।५५।

वह कुलीन स्त्रियों में श्रेष्ठ और पतिव्रताओं में अग्रणी थी, जैसे बुद्धियों में पण्डा मति और कलाओं में वाक्कला ।५६।

जैसे गंगा अपनी जलधारा से पृथ्वी को पवित्र बनाती है उसी प्रकार उसने शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान (निर्मल) अपने गुणों से धरती को पवित्र कर दिया ।५७।

वह महारानी सुशील थी और वह राजा धर्मात्मा था। उन दोनों के उपयुक्त समागम से विधाता का प्रयास सफल हो गया ।५८।

एक दिन रात को आरामदेह शय्या पर लेटी हुई वह कुछ सो रही थी और कुछ जाग रही थी जैसे सन्ध्या के समय कमलिनी थोड़ी खिली रहती है और थोड़ी बन्द हो जाती है ।५९।

उस समय अपराजित नामक विमान से च्युत होकर बाईसवें जिनेन्द्र उसकी कोख में अवतीर्ण हुए ।६०।

पूर्व जन्म के आहार तथा शरीर को छोड़ कर और अमरलोक में चिरकाल तक अलौकिक भोगों को भोग कर प्रभु शुभ योगों से युक्त कार्तिक के कृष्णपक्ष की बारहवीं रात में अवतरित हुए ।६१।

स्थूल तारों तथा ग्रहों से परिपूर्ण, ताल और तमाल के समान वर्ण वाली नभःस्थली, रात्रि की मोतियों से भरी वैदूर्य मणियों की डलिया के समान शोभित हो रही थी ।६२।

## द्वितीय सर्ग

तत्पश्चात् शिवादेवी ने स्वप्न में, आकाश से उतरते हुए, स्थूल शरीर वाले एक ऊँचे सफेद हाथी को देखा, जिसके गण्डस्थलों से मद बह रहा; इस प्रकार) वह झरनों के जल-प्रवाह को धारण करने वाले हिमालय के समान प्रतीत होता था ॥१॥

बर्फ, मोती, हर तथा हंस के समान धवल, परिपुष्ट शरीर वाले एक ऊँचे सुन्दर बैल को आते (देखा , जिसकी ढाँठ ऊँची थी और जो मानो चन्द्र-मण्डल से उत्कीर्ण किया गया था ॥२॥

सोने के समान चमकती हुई सुंदर अयाल वाले सिंह को (देखा), जिसके विषय में, आरम्भ में, आश्चर्यपूर्वक यह अनुमान किया गया था कि क्या यह पीतवस्त्रधारी नारायण है अथवा स्वर्णिम शरीर वाला गरुड़ ? ॥३॥

(हाथियों के द्वारा) स्नान कराई जाती हुई तथा झरते हुए दूध वाले स्थूल स्तनों को धारण करती हुई सुंदर लक्ष्मी को (देखा), जो (स्तन) मानों देवताओं की काम-पीड़ा को शान्त करने के लिये विधाता द्वारा रखे गये दो अमृत-घट हों ॥४॥

सुगन्ध के गौरव से उज्ज्वल और लम्बे भौंरों के समूह से व्याप्त पुष्पमाला को (देखा), जो पन्ने के टुकड़ों से गुम्फित, बिलौर की श्वेत अक्ष-माला के समान प्रतीत होती थी ॥५॥

अमृत से परिपूर्ण वर्तुलाकार चन्द्रबिम्ब को (देखा), जिसके मध्य में चमकता हुआ काला चिह्न दिखाई दे रहा था। (इस प्रकार) वह चंद्रकांत मणियों का थाल प्रतीत होता था, जिससे पानी झर रहा हो और जिसका मध्य भाग नीलमणियों से सुशोभित हो ॥६॥

आकाशरूपी सरोवर के सारस, असंख्य किरणों वाले सूर्य को (देखा) जो मानो कह रहा था कि हे माता ! जैसे मैं प्रचण्ड तेज की निधि हूँ, उसी प्रकार तुम्हारा पुत्र (अज्ञान के) अन्धकार को नष्ट करने वाले तेज (ज्ञान) का भण्डार होगा ॥७॥

कुमुदों के पराग के समान पीले, विभिन्न रंगो में विभक्त, घुंघरूओं के मधुर शब्द से गुंजित इन्द्रध्वज को (देखा), जो मन्द वायु से हिलते पत्तों से मानो जिनेन्द्र के अवतरण के हर्ष के कारण ऊपर नाच रहा था ॥८॥

फूलों से युक्त हरे पत्तों से शोभित कण्ठ वाले जल से, परिपूर्ण कलश को (देखा), जो चूडामणियो से अलंकृत नागो के फणो से व्याप्त एक छोटे निर्मल अमृतकुण्ड के समान था ॥९॥

खिले हुए कमलो से सुशोभित तथा अतीव स्वच्छ जल से भरे तालाब को (देखा) जो असीम करुणा से परिपूर्ण मुनिराज के निर्मल चित्त के समान था । ॥१०॥

हे माता ! जैसे जल के कारण मेरी थाह नहीं पाई जा सकती (अर्थात मैं अगाध हूँ) उसी प्रकार गुणों से यह तुम्हारा शिशु होगा, मानो यह सूचित करने के लिये चंचलतरंगों से व्याप्त, प्रकटहुए समुद्र को (देखा, ॥११॥

मानो तीर्थंकर नेमिप्रभु को पृथ्वी पर लाने के लिए आए हुए अपराजित नामक देदीप्यमान विमान को (देखा), जिसका वर्णन करना मनुष्य की वाणी से परे था तथा जिसमें घण्टियों का मधुर शब्द हो रहा था ॥१२॥

अतीव चमकीले रंग-बिरंगे रत्नों की राशि को (देखा),जो मन में यह तर्क पैदा कर रही थी कि क्या यह तारों का समूह है अथवा तीव्र प्रकाश वाले दीपकों की पंक्ति ? ॥१३॥

चमकते अंगारों के कणों से युक्त तथा धूसर धुएँ से रहित तेज गर्म आग को (देखा), जो अतीव कान्तिमयी लालमणियों की राशि के समान थी ॥१४॥

दशार्हराज (समुद्रविजय) की पटरानी ने इन श्रेष्ठ स्वप्नों को देखकर मोह की मुद्रा निद्रा को छोड़ दिया (अर्थात् वह जाग गई) जैसे कमलिनी सूर्य की किरणों का स्पर्श पाकर खिल जाती है ॥१५॥

तब शिवादेवी शय्या से उठकर अपने पति के भवन मे गयी जैसे प्रफुल्ल स्वर्णकमल पर रहने वाली लक्ष्मी विष्णु के वक्ष पर जाती है ॥१६॥

उस गजगामिनी को प्रसन्न देख कर राजा ने ये सारपूर्ण शब्द कहे—हे कमलनयनि ! आओ, यहाँ बैठो, कहो, तुम्हारे आने का क्या प्रयोजन है ॥१७॥

शरीर की कान्ति से दिशाओं को प्रकाशित करती हुई, चिकने केशों रूपी अंजन की वेणी वाली तथा स्नेह से परिपूर्ण वह, राजा के सामने बैठी हुई, उज्जवल दीपिका के समान शोभित हुई। ( दीपिका भी अपनी शिखा से दिशाओं को प्रकाशित करती है, चिकने केशों के समान अंजन उसकी वेणी है और वह तैल से भरी रहती है) ॥१८॥

उसने कहा 'हे स्वामी ! सुखदायक शय्या पर लेटे हुए मैंने अब चौदह श्रेष्ठ स्वप्न देखे हैं। मैं आपके मुख रूपी चन्द्रमा से उनके फल रूपी अमृत का पान करना चाहती हूँ'। १९॥

तब बुद्धि का भण्डार राजा वह प्रिया द्वारा कहे गये स्वप्नों को सुनकर उन्हें विचार-मार्ग पर ले गया जैसे उत्तम गुरु शिष्य-मण्डली द्वारा किये गए प्रश्नों को सुनकर उन पर विचार-विमर्श करता है ॥२०॥

तत्पश्चात् धीरबुद्धि राजा ने स्वप्नों के बहुमूल्य फल पर अच्छी तरह विचार करके, अपने मुख-कमल की सुगन्ध से प्रिया के मुख-कमल को सुरभित करते हुए, स्पष्ट अर्थ वाले ये शब्द कहे ॥२१॥

प्रिये ! चौदह स्वप्न देखने के कारण तुम चौदह लोकों के स्वामी, प्राणियों के चौदह गणों को अभय देने वाले तथा चारों दिशाओं में पूजनीय पुत्र को जन्म दोगी ॥२२॥

शैशव को लाँघकर अपने भुजदण्ड रूपी सूण्ड से दुष्ट राजाओं के सिंहासनों को उखाड़ता हुआ, उद्दीप्त गर्व रूपी सेना के कारण दुर्धर्ष वह, हाथी की तरह, शत्रुओं को जीतने वाला बनेगा। (हाथी बचपन को लांघकर भुजदण्ड के समान सूण्ड से दृढ़ वृक्षों को उखाड़ता है और मदजल रूपी सेना के कारण दुर्धर्ष होकर गजराज बन जाता है) ॥२३॥

वह तुम्हारा कल्याणकारी श्रेष्ठ पुत्र, अकेला ही, समूचे वीर यादवों को इस प्रकार अलंकृत करेगा जैसे अकेला पवित्र यौवन मनुष्य के शरीरके सारे अंगों कोसुशोभित कर देता है ॥२४॥

तुम्हारा पुत्र ज्ञानवान् विद्वानो में प्रथम, त्यागी राजाओ में शीर्षस्थानीय, वीर योद्धाओ में अग्रगण्य तथा यशस्वियो मे प्रमुख होगा ॥२५॥

सुडौल कन्धो की शोभा से युक्त वह अपने असाधारण पराक्रम से अन्य सब राजाओ को डरा कर तथा पृथ्वी को बलपूर्वक जीत कर उसे इस प्रकार भोगेगा जैसे साण्ड अपने अनुपम बल से अन्य बैलो को डरा कर तथा गाय को बरबस वश मे करके उसे भोगता है ॥२६॥

हे कल्याणि ! आज हमारा यदुवंश सचमुच परम विभूति का पात्र बन गया है क्योकि महान् लोगो का जन्म सम्माननीय, योग्य, उन्नत तथा शुभ कुल में ही देखा जाता है ॥२७॥

संगतार्थ से युक्त राजा की वाणी उपर्युक्त बातें कहने के पश्चात्, कुछ थक कर, मुख-मण्डल रूपी महल के होठ रूपी किवाड बद करके जिह्वा रूपी आसन पर सुखपूर्वक विश्राम करने लगी (अर्थात् शात हो गयी) ॥२८॥

तब 'तथास्तु' यह कह कर और राजा की अनुमति से अपने भवन मे जाकर प्रसन्न रानी ने, बुरे स्वप्नो के भय के कारण जागते हुए, धर्मकथा आदि कौतुकों से रात बिताई ॥२९॥

इसके बाद रानी ने रात्रि, रूपी स्त्री के द्वारा मोहवश अन्धकार रूपी अंजन से लीपे गये दिक्कुमारियों के मुखो को सूर्य की किरणो के जल से धोते हुए प्रभात को, अपने पुत्र के समान, देखा(शिशु के मंलेअंग भी धोने से स्वच्छ हो जाते हैं) ॥३०॥

जिसके आने पर श्रेष्ठ पुरुष नित्य प्रति विलास-शय्याओं से उठ जाते हैं। अतिथियो की सेवाविधि को जानने वाले सचमुच कही भी औचित्य को नही छोड़ते ॥३१॥

जिसमें आभाहीन हुई किरणो वाला चन्द्रमा ज्यो ही अस्ताचल की चोटी पर पहुंचा त्यों ही कुमुदिनी का मुख मलिन हो गया (वह मुरझा गयी), इससे कुलांगनाओं का चरित्र स्पष्ट है ॥३२॥

यदि रात्रि को भोगने की थकावट से चन्द्रमा की शोभा प्रभात के समय क्षीण होती है, वह तो उचित है किंतु सप्तर्षियों ने क्या अपराध किया कि वे भी निष्प्रभ हो गये ॥३३॥

जिसमें कान्तिहीन नक्षत्रमाला से युक्त आकाश ने अपनी शोभा से, असंख्य बन्द कुमुदों से भरे नीले जल के तालाब की शोभा का अनुकरण किया ॥३४॥

जब(प्रात:काल)रात्रि प्राणप्रिय चंद्रमा के अस्त होने के तीव्र शोक के कारण नाना नक्षत्रों से युक्त लाल आकाश को इस प्रकार छोड़ देती है जैसे चाँद के समान सुंदर नारी अपने मृत पति के घने दुःख से बेल-बूटों से सुशोभित (सौभाग्य-सूचक) बढ़िया लाल वस्त्र त्याग देती है ॥३५॥

जब अपने पतियों से प्रेम करने वाली पवित्र साध्वी नारियाँ, जिनके गहने और वस्त्र सोने से ढीले होगये हैं, मानो सूर्य की किरणों (हाथों) के स्पर्श के भय से, हड़बड़ा कर अपना शरीर ढक लेती हैं ॥३६॥

जिसमें जैन जिन का, बौद्ध बुद्ध का, शैव शिव का, सांख्य के अनु-यायी कपिल का, ब्राह्मण ब्रह्मा का ध्यान करते हैं, किन्तु नास्तिक किसी देवता का नहीं ॥३७॥

जिसमें राजा और नैयायिक अपने मनोरथ की सिद्धि के लिये, दूसरों द्वारा संस्थापित प्रबल साधन ( सेना, अनुमान ) को अपने प्रयोगों ( कार्यों, अनुमान ) से शान्त करना चाहते हैं ॥३८॥

जब प्रफुल्ल कुमुदों रूपी सुन्दर आँखों वाली रात्रि, जिसमें आकाश नक्षत्र रूपी मोतियों से सुशोभित होता है, दूसरे द्वीप में गये (अस्त) हुए चन्द्रमा का अनुगमन करती है ( अर्थात् उसके साथ स्वयं भी समाप्त हो जाती है ) जैसे नक्षत्र-तुल्य मोतियों से सजे वस्त्रों वाली तथा विकसित कुमुदों के समान कमनीय आँखों वाली साध्वी नारी परलोक में गए (मृत) पति का ( चिता में जलकर ) अनुसरण करती है ॥३९॥

जब सूर्य को उदित हुआ देखकर उल्लू आँखे मीच कर कोटरों में छिप जाते हैं। दूसरों की विभूति को देखने में असमर्थ नीच लोग अपना मुँह सदा नीचे झुका कर रखते हैं ॥४०॥

उस समय मुनियों ने अपना मन ध्यान में लगाया, सूर्य ने अन्धकार को दूर कर दिया, श्वेत कुमुद बन्द हो गया और सूर्यकान्त मणियाँ चमकने लगीं ॥४१॥

जब अपनी प्रेयसी कमलिनी के मुँह को उड़ते हुए भौंरों के द्वारा चूमा जाता देखकर सूर्य ने, मानों क्रोध से लाल होकर, अपने कठोर पांवों (किरणो) से उसके सिर पर प्रहार किया ॥४२॥

जिसमे कमलिनी, सूर्य द्वारा अपने चरणों से मसली जाती हुई भी, पूरी तरह खिल उठी। सच्चा प्रेम वही है, जिसके वशीभूत हुआ मनुष्य दुख को भी सुख ही समझता है ॥४३॥

उस समय सूर्य उदित होकर, अपनी किरणो को रोकने वाले वृक्षों की भी सघन छाया को चारों ओर फैला देता है क्योंकि सज्जन वैरियों का भी भला करते हैं॥४४॥

जब अन्धकार का विनाश करता हुआ भी सूर्य मुनिजनों के साथ समानता प्राप्त नहीं कर सका। एक (सूर्य) प्रभा-पुंज से युक्त है और दूसरा (मुनि) भाव रूपी शत्रुओ से मुक्त होने के कारण प्रसिद्ध है ॥३५॥

उस समय पाप से उत्पन्न मलिनता को शुद्ध करने में निपुण- पाप और पुण्य का विचार करने में समर्थ तथा योग में लीन दृष्टि वाले ऋषि, ग्रहों के अतिचार तीव्र-मन्द आदि गति) को ठीक करने में कुशल, शुभाशुभ राशियों पर विचार करने में सक्षम तथा ग्रहों के योगो में अनेक प्रकार से व्यस्त दृष्टि वाले ज्योतिषियों के समान प्रतीत हुए ॥४६॥

जब प्रमोदी चकवों से युक्त नदियों में घूमने वाली हंसो की नयी स्त्रियाँ सुगन्धित कमलों की नाल का कलेवा करती हैं ॥४७॥

चकवी को सुख देने वाले पूर्ववर्णित प्रभात को देखकर चतुर मागधों ने राजा को जगाने के लिए चन्दन के समान शीतल ये शब्द कहे ।।४८।।

राजन् ! प्रभात के समय सहसा कान्तिहीन हुआ यह चन्द्रमा लक्ष्मी की चंचलता को स्पष्ट प्रकट कर रहा है । अतः नींद छोड़ो, जागो, जिनेन्द्र का स्मरण करो तथा प्रातःकालीन नित्य कर्म करो ।।४९।।

महाराज ! अब सूर्य की किरणों रूपी बाणों से छिन्न-भिन्न हुआ तुम्हारे शत्रुमण्डल के समान अन्धकार भाग कर दिशाओं में छिप रहा है । बलवान् द्वारा पीड़ित कायर की और क्या गति है ?।।५०।।

राजन् ! सिन्दूर, अनार तथा जपा के फूल के समान प्रभा वाले नवोदित सूर्य तथा आपके तेज द्वारा पृथ्वी के समस्त पदार्थों को तुरन्त लाल बना देने पर श्वेत कैलास पर्वत भी कुंकुम के समान लाल हो गया है ।।५१।।

राजन् ! स्वामी का विनाश होने पर पहले उसका परिवार नष्ट हो जाता है और उसका उदय होने पर वह भी अभ्युदय को निश्चित प्राप्त होता है । इसीलिए प्रभात के समय रात्रि और उसका स्वामी चन्द्रमा नष्ट हो गये हैं और दिन तथा उसका अधिपति सूर्य उदित हो गये हैं ।।५२।।

राजन् ! ताजा खिले हुए कमलों के मधु-बिन्दुओं का संग्रह करने का लोभी यह भौंरा, अति प्रेम के कारण कमलवन की गोद में इस प्रकार गिर रहा है जैसे प्रेमी की दृष्टि प्रेयसी के मुँह पर पड़ती है ।।५३।।

महाराज ! यह मदान्ध हाथी रात भर देर तक नींद का सुख लेकर (अब) करवट बदल कर शृंखला का शब्द करता हुआ, जाग कर भी, अलसाई आँखों को नहीं खोल रहा है ।।५४।।

हे राजेन्द्र ! अश्वपाल, तुम्हारे अस्तबल में हिनहिनाते हुए, गति में वायु को भी मात करने वाले बलशाली घोड़ों को खाण्ड के समान उज्ज्वल नमक के टुकड़े दे रहे हैं ।।५५।।

राजन्। तुम्हारे सुन्दर भवन के द्वार पर तथा समस्त देवालयों में जयमंगल की सूचक ये सैंकड़ों प्रभातकालीन तुरहियाँ बज रही हैं ॥५६॥

राजन् ! चकवे किसी प्रकार रात बिताकर अब अपनी प्रियाओं को पाकर उनके साथ प्रसन्नता से नाच रहे हैं ॥५७॥

तोता आकाश में उड़ रहा है। कभी वह आम के फलों में छिप जाता है, भूख से पीड़ित होने पर चुपचाप बैठ जाता है, फिर हर्षपूर्वक अपनी प्रिया के गले लगता है ॥५८॥

हे श्रेष्ठ नृप। नगर, सरोवर तथा तालवृक्ष पर रहने वाले, सुन्दर एव शीघ्र गति से चलने वाले हंस कमलनाल खाने की इच्छा से हंसियों के साथ वन में चले गये हैं ॥५६॥

राजन् ! नाना प्रकार के पके हुए अन्न खाकर अस्पष्ट शब्द करती हुई पक्षियों की पंक्तियाँ, धनवानों की कन्याओं की तरह निर्मल जल ला रही हैं ( कन्याएँ मिष्टान्न लाती हैं ) ॥६०॥

महाराज ! उदयाचल की चोटी पर स्थित, मूँगे और टेसू की प्रभा वाला सूर्य अब पूर्व दिशा रूपी नारी के माथे पर लगे कुंकुम के तिलक के समान शोभा पा रहा है।

मागधों के पूर्वोक्त मनोहारी तथा हितकारी वचन सुनकर सत्यवादी यादवराज समुद्रविजय निद्रा छोड़कर टूटी मालाओं से युक्त बिस्तरे से उठ गये ॥६२॥

●●●

# तृतीय सर्ग

तत्पश्चात् प्रातः कालीन कार्यों को समाप्त करके राजा, सावधान होकर मन्त्रियों के साथ, सभा-भवन में सिंहासन पर ऐसे बैठ गया जैसे शेर पर्वत की सुन्दर चोटी पर बैठता है ॥१॥

सोने के सिंहासन पर बैठे हुए उसने, जिसके सिर के ऊपर ऊँचा छत्र गर्मी दूर कर रहा था, कल्पवृक्ष के नीचे हिमालय की शिला पर स्थित इन्द्र की शोभा को मात कर दिया ॥२॥

हिलती हुई चंवरियों के बीच उसका प्रसन्न मुख इस प्रकार शोभित हुआ जैसे दो हंस-शिशुओं के मध्य खिला स्वर्ण कमल ॥३॥

उसका रूप स्वभाव से ही कमनीय था, सिंहासन पर बैठने से वह और सुन्दर बन गया। इन्द्रनीलमणि अकेली ही मनोहर होती है, उसे सोने में जड़ने पर तो कहना ही क्या ? ॥४॥

सामन्त राजाओं ने मणिजटित चौकी पर रखे उसके पूजनीय चरणों को अपने सिरों से, जिनसे चूड़ामणियाँ गिर रही थीं, एक साथ प्रणाम किया ॥५॥

राजा ने निर्मल चन्द्रमा के समान मुख वाले अपने जिस-जिस सेवक को दृष्टि से देखा, हर्ष रूपी लक्ष्मी ने उस-उस का ऐसे आलिंगन किया जैसे कामविह्वल कामिनी अपने पति का ॥६॥

पान के पत्तों से लाल होठों वाली, इच्छानुगामिनी तथा शुभ्रवेशधारिणी सभा रूपी वधू ने नीति और विनय के पात्र उस राजा की, पति के रूप में, कामना की ॥७॥

हिम के समान उज्ज्वल वस्त्रों से विभूषित तथा अथाह सेना के कारण दुर्द्धर्ष उस राजा ने, जिसका शरीर लालों और मोतियों से चमक रहा था, तब हिमालय के सौन्दर्य को धारण किया। ( हिमालय की भूमि माणिक्यों

तथा मुक्तामणियों से दीपित है, वह हिम के वस्त्र से सुशोभित है तथा अपनी दुर्गम घाटियों के कारण अगम्य है ) ॥८॥

प्रमुख मन्त्रियों से घिरा हुआ वह ऐसे शोभित हुआ जैसे अपने झुण्ड के हाथियों से यूथ का स्वामी ( गजराज ), तारों के समूह से शरत् का चन्द्रमा और घने आम्र वृक्षों से कल्पतरु ॥९॥

उस अग्रणी राजा ने जानकार लोगों द्वारा कही जाती हुई, अनिवर्चनीय आनन्द से परिपूर्ण कथा रूपी अमृत का अपने कर्णपुटों से तत्परतापूर्वक पान किया ॥१०॥

इसके बाद राजा ने अपने सेवकों को स्वप्नों पर विचार करने में कुशल व्यक्तियों को बुलाने के लिए आदेश दिया। निमन्त्रण पाकर वे भी राजा को आशीर्वाद देते हुए वहाँ उपस्थित हुए ॥११॥

प्रिये ! देवता कौन है ? वृषभ। अरी, क्या बैल ? नहीं, वृषभध्वज। क्या शंकर ? नहीं, चक्रवर्ती जिन। इस प्रकार पति-पत्नी द्वारा हास्यपूर्वक कहे गए जिनेन्द्र आपको प्रसन्न करें ॥१२॥

वह युगादि देव ऋषभ आपकी लक्ष्मी की रक्षा करे, जिसने पहले साम्राज्यलक्ष्मी को भोगा, तत्पश्चात् चारित्रलक्ष्मी को और फिर केवल-ज्ञान रूपी लक्ष्मी को प्राप्त किया ॥१३॥

अन्धकार (अज्ञान) की राशि को नष्ट करने वाली तथा चारों ओर अर्थतत्त्व को प्रकाशित करने वाली शास्त्ररूपी मणि को, रात्रि के समय वणिक् की अट्टालिका पर (रखे) दीपक के समान, हृदय-कमल में धारण करते हुए, स्नात, प्रशंसनीय, शास्त्रज्ञ, कृतज्ञ तथा श्वेत एवं निर्मल वस्त्र पहने हुए स्वप्नज्ञ लोग, राजा की आज्ञा से, सामने रखे उत्तम आसनों पर बैठ गये ॥१४-१५॥

राजा ने नाना प्रकार के पवित्र फलों, मालाओं तथा वस्त्रों से उनकी पूजा की (उन्हें सम्मानित किया) क्योंकि ज्योतिषी फल देखकर ही प्रश्न करने वाले को उसका फल बतलाते हैं ॥१६॥

उसने उन ज्योतिषियों को इस प्रकार कहा—आज आधी रात के समय रानी ने गज आदि चौदह स्वप्न देखे हैं। बतलाओ, उनका क्या फल होगा ? ॥१७॥

पहले उन चतुर ज्योतिषियों ने राजा द्वारा बताए गये उत्तम स्वप्नों पर आपस में विचार-विमर्श किया, फिर इस प्रकार कहा क्योंकि बुद्धिमान लोग विचार कर ही बात कहते हैं ॥१८॥

राजन् ! ये शुभ तथा उत्तम स्वप्न वृद्धि के सूचक हैं। हम इनका फल बतलाने में असमर्थ हैं क्योंकि इस विषय में बृहस्पति की वाणी भी जड़ है ॥१९॥

फिर भी हम शास्त्र के अनुसार इन पर कुछ विचार करते हैं। क्या अन्धा भी आँखों वाले का हाथ पकड़ कर ठीक रास्ते पर नही चलता ? ।२०।

हे यादवराज ! इसलिए सुनो, जो स्त्री इन स्वप्नों को देखती है, उसकी कोख रूपी कमल के अन्दर ब्रह्मा की भाँति चक्री अथवा जिन अवतीर्ण होता है ॥२१॥

राजन् ! शास्त्र के अनुसार तथा अपनी बुद्धि के सामर्थ्य से हमने यह विचार किया है (अर्थात् हमारा यह विचार है) कि देवी के उदर में जिनेन्द्र अवतरित हुए हैं, जैसे सुमेरु पर्वत के कुंज में कल्पवृक्ष ॥२२॥

चौंसठ देवाधिपति इन्द्र, नौकरों की तरह, सहर्ष उसकी सेवा करेंगे। अन्न-जल-भोजी बेचारे अन्य राजाओं की तो वहाँ गिनती क्या ? ॥२३॥

हे स्वामिन् ! साढ़े आठ दिन सहित नौ शुभ मास बीतने पर रानी, तीनों लोकों द्वारा पूसनीय पवित्र पुत्र को जन्म देगी ॥२४॥

ज्योतिषियों के वे हृदयग्राही निर्भ्रान्त (स्पष्ट) वचन सुनकर राजा ने, महान् हर्ष से दूना होते हुए, बार-बार 'तथास्तु' कहा ॥२५॥

इसके बाद धनवान् राजा उन विद्वान् ज्योतिषियों को जीवन-पर्यन्त धन देता रहा, जैसे कल्पवृक्ष मनुष्यों को, और निधियों की राशि चक्रधारियों को ॥२६॥

तब स्वप्नफल के ज्ञाताओं ने प्रसन्न होकर उत्तम आशीर्वादों से राजा का अभिनन्दन किया। क्या कुलीन नीतिवेत्ता कहीं आचार के मार्ग का उल्लघन करते हैं ?॥२७॥

राजा द्वारा विदा किए गये वे श्रेष्ठ ज्योतिषी प्रसन्न होकर अपने घरों को गये। राजा भी सिंहासन से उठकर रानी के पास चला गया ॥२८॥

प्रेमविह्वल राजा ने विद्वान ज्योतिषियों द्वारा कहा गया स्वप्नों का वह शुभ फल अपनी प्राणप्रिया को एकान्त में बताया क्योंकि प्रिय बात प्रिय व्यक्ति को कहनी चाहिए ! ॥२९॥

उसी दिन से यादवराज की पत्नी ने इस प्रकार गर्भ धारण किया जैसे मन्दर पर्वत की गुफा कल्पवृक्ष को और रोहणपर्वत की भूमि रत्नराशि को धारण करती है ॥३०॥

प्रयत्नपूर्वक गर्भ का पोषण करती हुई यादवराज की पत्नी आराम से बैठती है, आराम से सोती है, आराम से रुकती है, आराम से चलती है, और स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन करती है ॥३१॥

'यह लज्जा के कारण मुझे अपनी इच्छा नहीं बतलाती' इसलिए कोमल चित्त राजा बहुत आदर के साथ उसकी सखियों से पूछता था कि यह किन-किन वस्तुओं को चाहती है ॥३२॥

रानी का जो दोहद उत्पन्न होता था, वह तत्काल ही पूर्ण हो जाता था। पुण्यशाली लोगो का अभीष्ट मनोरथ कहाँ पूरा नही होता ? ॥३३॥

जो राजा पहले दुर्जय थे अथवा जो उसके सामने नहीं झुकते थे, भगवान् के गर्भ में आने पर वे भी तुरन्त दशार्हराज की सेवा ऐसे करने लगे जैसे श्रद्धालु शिष्य गुरु की ॥३४॥

तब समय पर रानी शिवादेवी से, चमचमाते प्रभामण्डल से विभूषित तथा संतुलित अंगों वाला पुत्र उत्पन्न हुआ जैसे सुधर्मा सभा रूपी जन्म-शय्या से देवराज इन्द्र प्रकट होता है ॥३५॥

संसार के लोगों के आनन्द तथा कल्याण के हेतु, तीनों लोकों के कष्ट रूपी समुद्र के सेतु, यदुवंश के ध्वज, शंख चिह्नधारी प्रभु नेमिनाथ ने संसार को पवित्र कर दिया ॥३६॥

उस समय नरक के प्राणियों को भी क्षण भर के लिये अपूर्व सुख प्राप्त हुआ। संसार को पवित्र करने वाला महात्माओं का जन्म किसे सुख देने वाला नहीं होता ! ॥३७॥

दशों दिशाएँ तुरन्त निर्मल हो गयीं, समूचे जीवलोक में प्रकाश भर गया, धूल से रहित अनुकूल पवन चलने लगी और पृथ्वी से विपत्ति एवं दरिद्रता का दुःख नष्ट हो गया ॥३८॥

तब राजाओं के शिरोमणि समुद्रविजय के भवन ने, जो फैलती हुई किरणों से युक्त शरीर वाले जिन रूपी सूर्य से सुन्दर था तथा जो मरकतमणियों और अगणित रत्नों से युक्त था, उदयाचल की शोभा को प्राप्त किया करें ॥३९॥

## चतुर्थ सर्ग

तत्पश्चात् समस्त दिक्कुमारियों के आसन इस प्रकार एक साथ हिलने लगे जैसे वायु से प्रताडित वृक्ष हर जगह हिलने लगते हैं ॥१॥

तब उन्हे अवधिज्ञान के प्रयोग से प्रभु का जन्म ज्ञात हुआ जैसे रानियाँ गुप्तचर भेज कर देश का समाचार जान लेती हैं ॥२॥

इसके बाद आठ दिक्कुमारियाँ ऊर्ध्वलोक से शिवा के प्रसूतिगृह में आईं जैसे भवरियाँ वृक्ष से कमल पर आती है। हारों रूपी पुष्पावलियों से सुशोभित, स्थूल स्तनों रूपी फलों से युक्त तथा रेशमी वस्त्रों रूपी पत्तों वाली वे गतिशील (चलती-फिरती) काम-लताओ के समान प्रतीत होती थी! अचानक हर्ष से उनकी आँखे फैल गयी थी, वे मालाओ से भूषित थी, उन्होने उज्ज्वल वस्त्र पहन रखे थे और वे नीतिज्ञ देवताओ के योग्य थी। उन्होने कानो की कान्ति से परिपूर्ण मणियो के कुण्डल धारण किये हुए थे, जो उनके मुँह को देखने के लिये एक-साथ आए सूर्य और चन्द्रमा के समान प्रतीत होते थे। वे दिक्कुमारियाँ होती हुई भी रस मे लीन थी, विलासी होती हुई भी भ्रान्ति से रहित थी, सुन्दर होती हुई भी कुटिल नही थी और अलंकृत होती हुई भी भूषणो से रहित थी (पृथ्वी लोक मे नही रहती थी—न भुवि उषिता:)। वे भगवान् के जन्म से उत्पन्न प्रसन्नता को, जो मानो उनके हृदयो मे नही समा रही थी, प्रभामण्डल के बहाने बाहर शरीर पर भी धारण कर रही थी ॥३-८॥

उन्होने जगत् के स्वामी नेमिप्रभु तथा माता शिवादेवी की तीन परिक्रमाएँ करके और उन्हे प्रणाम करके आनन्दपूर्वक ये प्रशसनीय वचन कहे ॥९॥

देवताओं, देवेन्द्रों तथा राजाओं द्वारा पूजित चरणों वाले हे प्रभु ! तुम्हारी जय हो । संसार को आनन्दित करने वाले पुत्र की माता हे शिवादेवी ! तुम्हें नमस्कार ॥१०॥

गौरी के पुत्र (गणेश) का पेट लम्बा है, लक्ष्मी का पुत्र (काम) शरीर हीन है । हे सुन्दर शरीर वाले पुत्र की माता ! तुम्हारी तुलना किसके साथ की जाय ? ॥११॥

कल्पलता सदा अज्ञान को जन्म देती है । सर्वज्ञ को जन्म देने वाली हे माता ! उससे तुम्हारी तुलना कैसे की जा सकती है ? ॥१२॥

आज स्त्री जाति, जिससे समस्त गुणों के भण्डार जगत्प्रभु का जन्म हुआ है, निन्दनीय होती हुई भी तीनों लोकों में प्रशंसा के योग्य बन गयी है ॥१३॥

हे माता ! यह तुम्हारा पुत्र पुरुषों में सर्वोत्तम है । क्या सुमेरु पर्वत के वनों में सभी वृक्ष कल्पवृक्ष होते हैं ? ॥१४॥

हे देवि । तुम डरो मत । जिनेश्वर का जन्म हुआ जानकर हम दिक्-कुमारियाँ उनका सूतिकर्म करने के लिये आई हैं ॥१५॥

इस प्रकार अपना परिचय देकर उन्होंने प्रसूतिगृह के चारों ओर एक योजन तक संवर्त वायु से अपवित्र कणो को दूर कर दिया ॥१६॥

फिर वे जादू की तरह तुरन्त संवर्त वायु को रोक कर, जिनेन्द्र और माता का गुणगान करती हुई, वहाँ (सूतिगृह में) बैठ गयीं ॥१७॥

पाताललोक से भी आठ दिक्कुमारियाँ प्रसूतिगृह में आईं । उनके जघनों पर करधनी के घुंघरूओं का शब्द हो रहा था, वक्ष पर मालाएं हिल रही थीं, वे रत्नों के आभूषणों से विभूषित थी और ऐसी लगती थीं मानो साक्षात् कल्पलताएं ही उनके रूप में परिवर्तित हो गयी हों ॥१८-१९॥

इन्होंने भी पहले की तरह अपना परिचय देकर मनोहर दुर्दिन पैदा करने वाले मेघ को ऐसे ऊपर फैला दिया जैसे दीपिकाएँ ऊपर की ओर कालिमा फैलाती हैं ॥२०॥

बादल ने पृथ्वी पर एक योजन तक सुगन्धित जल बरसा कर धूलि और गर्मी को इस प्रकार शान्त कर दिया जैसे सूर्य अन्धकार और कोहरे को दूर कर देता है ॥२१॥

तब कुमारियों ने, वायु से हिलाई गयी प्रफुल्लित पुष्पवाटिकाओं की तरह पांच रंग के फूलों की वर्षा की ॥२२॥

उन फूलों ने, गिरकर भी, पृथ्वी को सुगन्धित किया। निश्चय ही पवित्रात्मा व्यक्ति विपत्ति मे भी दूसरों का उपकार करते हैं ॥२३॥

उस समय वहाँ (सूतिगृह में) फूलों के ऊपर मंडराते हुए भौरे नीले उत्तरीय की शोभा का अनुकरण कर रहे थे ॥२४॥

भौरों ने अपनी गूँज के बहाने प्रभु के गुणों का गान किया और फूलो ने मकरन्द के मिस उन्हे पान दिया ॥२५॥

उन फूलो ने अपनी सुगन्ध से दिशाओं को सुगन्धित कर दिया। ससार मे सज्जनो के गुणो का एकमात्र फल निश्चय ही परोपकार है ॥२६॥

अपने योग्य स्थान पर बैठी हुई उन्होंने अलौकिक शक्ति से फूलो और पानी की वर्षा को रोक कर प्रभु का गुणगान किया ॥२७॥

तत्पश्चात् रुचक पर्वत की पूर्व दिशा से आठ दिक्कुमारियाँ यादवराज के महल में आयी जैसे पर्वत से नदियाँ समुद्र में आती है ॥२८॥

पहले की भाँति उन्होंने वाणी से जिनेन्द्र तथा माता की स्तुति की और शीश झुकाकर उन्हे नमस्कार किया। कौन बुद्धिमान् भवसागर से मुक्त करने वाले कल्याणकारी व्यक्ति की स्तुति और वन्दना नहीं करता ॥२९॥

तत्पश्चात् उन्होंने पूर्व दिशा में बैठकर तथा हाथों में मनोहर दर्पण लेकर भगवान् के विपुल तथा निर्मल यश का एक साथ प्रसन्नता-पूर्वक गान किया ॥३०॥

तब कुछ समय बाद कमल के कोमल कोश के सदृश घने स्तनों से शोभित आठ कुमारियाँ रुचक पर्वत की दक्षिण दिशा से वहाँ आई ॥३१॥

मधुर रस में लीन वे जिनेश्वर को नमस्कार करके दक्षिण दिशा में बैठ गयीं और हाथों में कमल रूपी स्वर्ण लेकर उन्होंने प्रभु के समूचे शुभ्र (निष्कलंक) यश का गान किया ॥३२॥

रस्सी में बंधी मृगियों के समान प्रभु के पुण्यों से आकर्षित हुई आठ कन्याएँ रुचक पर्वत के पश्चिम से आकर तुरन्त सूतिगृह में अवतीर्ण हुई ॥३३॥

चंचल कानों वाली दिशाओं की हथिनियों के समान अपने करकमलों से पंखे हिलाती हुई वे कुमारियाँ अपना परिचय देकर तथा प्रभु को नमस्कार करके पश्चिम दिशा में बैठ गयीं ॥३४॥

हाथों में चंवर लिए हुए जो प्रसन्न दिक्कुमारियाँ रुचक पर्वत के उत्तर से आई थीं वे उत्तर दिशा में बैठ गयीं, मानों वे शरीरधारी आठ सिद्धियाँ हों ॥३५॥

जो चार सुन्दरांगी कुमारियाँ रुचक के दिशाकोणों से आई थीं, उन्होंने भी, हर्षाधिक्य से दूनी होकर, जिनेन्द्र और शिवा की वन्दना की ॥३६॥

दिशाकोणों में स्थित वे हाथों में दीप लेकर गीत गाती हुई ऐसे शोभित हुई मानों चारों दिशाकोण ही उनका रूप धारण करके जिनेन्द्र की उपासना करने के लिये आए हों ॥३७॥

इसी प्रकार रुचक पर्वत के मध्य रहने वाली जो चार चतुर कुमारियां आयी थीं, उन्होंने आदर पूर्वक जिनेश्वर की माता को अपना परिचय देकर प्रभु का नाल काटा ॥३८॥

उन्होंने प्रसूति-गृह से पूर्व, उत्तर तथा दक्षिण दिशाओं में तीन पवित्र कदलीगृह बनाकर उनके अन्दर एक चौकोर सिंहासन रखा ।।३९।।

कदलीगृह के भीतर, फैलती हुई किरणों से व्याप्त वह रत्नों का सिंहासन इस प्रकार शोभित हुआ जैसे कमल के कोमल पत्तों से ढके स्वच्छ जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब ।।४०।।

प्रभु को दोनों हाथों में लेकर तथा शिवादेवी को बाँह का सहारा देकर विधि की ज्ञाता वे कुमारियाँ उन्हें पहले दक्षिण दिशा के कदलीगृह में ले गयीं ।।४१।।

वहाँ जिनेश्वर तथा जिन माता को सिंहासन पर बैठाकर तथा उनकी मालिश करके उन्होंने, दासियों की तरह, अद्भुत द्रव्यों से उन दोनों के शरीर पर लेप किया ।।४२।।

फिर पूर्व दिशा के कदलीगृह में ले जाकर उन देवियों ने नहलाने योग्य उन दोनों को पवित्र जल से स्नान कराया। देवता भी अधिक पुण्यशाली लोगों के सेवक होते हैं ।।४३।।

तत्पश्चात् कन्याओं ने उनके शरीर पर चन्दन और काफूर का लेप किया। यह बहुत आश्चर्य की बात है कि उनका भी (कुमारियों का) सारा सन्ताप नष्ट हो गया ।।४४।।

इसके बाद कुमारियों ने तीर्थंकर और उनकी माता को कोमल वस्त्र पहना कर उन्हें निर्मल भूषणों से सजाया जैसे देवबालाएँ दो कल्पलताओं को सजाती हैं ।।४५।।

वे आभूषण संसार के भूषण प्रभु को पाकर शोभा से चमक उठे। निश्चय ही गुणवान् की संगति परम समृद्धि का कारण होती है ।।४६।।

रमणीय आकृति वाली शिवा अलौकिक भूषण पहनकर और अधिक सुन्दर लगने लगी। नीलमणि, अकेली ही, सुन्दर है, सोने में जड़े जाने पर तो कहना ही क्या ? ।।४७।।

तत्पश्चात् देवियाँ शिवा को पुत्र-सहित उत्तर दिशा के भवन में ले गयीं जैसे सद्गुरु के वचन धर्मशास्त्र से युक्त (पुष्ट) बुद्धि को शिष्य के मानस में ले जाते हैं ।।४८।।

फिर उन्होंने उन दोनों की रक्षा के लिये, देवता रूपी सैनिकों द्वारा क्षुद्र हिमालय से लायी गई चन्दन की लकड़ियों को आग में जलाकर राख की पोटली बनाई ।।४९।।

तालवृक्ष के समान विशाल तथा चन्द्रमा के सदृश निर्मल पत्थर के दो गोलों को आपस में रगड़ते हुए कुमारियों ने प्रभु के कान में कहा कि आप पर्वत की भाँति चिरायु होंगे ।।५०।।

तीनों लोकों की रक्षा में तत्पर तथा तीनों लोकों का कल्याण करने वाले प्रभु का जो मांगलिक आशीर्वचन तथा रक्षाबन्धन था, वह उनकी (दिक्कन्याओं की) स्वामिभक्ति का क्रम ही था ।।५१।।

काफूर, कालागुरु तथा धूप से धुमैले और अत्यधिक सुशोभित शय्या से युक्त सूतिकागृह में जिनेन्द्र तथा माता को लेटा कर वे इस प्रकार प्रभु के गुण गाने लगीं ।।५२।।

समस्त पवित्र सतियों की शिरोमणि माता शिवा, पन्ने और नीलमणि के समान शरीर की कान्ति से सम्पन्न श्रेष्ठ पुत्र के साथ ऐसे शोभित हुई जैसे वसन्त से सजी पुष्पवाटिका, सत्यज्ञान से युक्त क्रिया, निर्मल विवेक के साथ लक्ष्मी, सूर्य से युक्त पूर्व दिशा, नीलमणि से जड़ी अंगूठी, नये मेघ से शोभित आकाश, भौंरे से युक्त स्वर्णकेतकी और स्निग्ध काजल से अंजी आँख शोभा देती है ।।५३-५५।।

भक्ति से परिपूर्ण वे छप्पन दिक्कुमारियाँ तीर्थंकर का सूतिकर्म भली प्रकार करके, अपने को धन्य समझती हुईं, अपने-अपने स्थान को चली गयी ।।५६।।

## पंचम सर्ग

तत्पश्चात् (दिक्कुमारियों के जाने के बाद) स्वर्ग में सुधर्मा रूपी झील का कमल, सिंहासन, जिस पर इन्द्र रूपी राजहंस आसीन था, जिनेश्वर के प्रभाव की वायु से प्रेरित होकर सहसा हिलने लगा ॥१॥

तब क्रोध रूपी निशाचरी ने सिंहासन के हिलने का बहाना पाकर इन्द्र के शरीर में प्रवेश करके उसके क्षमा और विवेक को हर लिया। शत्रु निश्चय ही दोषों पर प्रहार करते हैं ॥२॥

उस (क्रोध की राक्षसी) ने उसके ललाट को तेवड़ों से भयंकर, भौंहों को सर्पों के समान भीषण, आँखों को प्रज्वलित अग्निकुण्ड के समान विकराल और मुँह को प्रचण्ड सूर्य के समान बना दिया ॥३॥

तब इन्द्र ने क्रोध के कारण अपने होठों को दान्तों से इस प्रकार काटा जैसे वह कामावेग से शची के अधरों को काटता है, और कोप रूपी वृक्ष के लम्बे पत्तों के समान दोनों हाथों को इधर-उधर हिलाया ॥४॥

इस प्रकार इन्द्र के सारे अंग एक-साथ विकार को प्राप्त हो गये। विपत्ति आने पर कोई विरला विवेकशील व्यक्ति ही धीरज रखता है ॥५॥

तब वज्रपाणि इन्द्र, जिसने पराक्रम से समस्त शत्रुओं को अभिभूत कर दिया था, तीनों लोकों को तिनके के बराबर भी न समझता हुआ और हृदय में क्रोधाग्नि से जलता हुआ क्षण भर के लिये यह सोचने लगा ॥६॥

कौन हिमालय को सिर से तोड़ना चाहता है, कौन सिंह को कान से पकड़ना चाहता है ; कौन बेचारा आज मेरे क्रोध की जलती ज्वाला में आहुति बनेगा ॥७॥

जिस गर्वान्ध मूढमति ने मेरे सिंहासन को हिलाया है, वह कौन है, जो मेरे वज्र की कोटि रूपी प्रज्वलित दीपक में पतंगे की भाँति जलकर मरेगा ॥८॥

यह सोचकर उसने ज्यों ही विद्युल्लताओं के पुंज के समान उस विकराल वज्र को उठाया, जो विपक्ष का क्षय करने के लिये सदैव कटिबद्ध है तथा जिससे निरन्तर चिनगारियाँ निकलती रहती हैं ; त्यों ही सेनापति ने हाथ जोड़ कर प्रणाम करके कहा—हे स्वामिन् ! मुझ सेवक के रहते हुए आप किसके लिए यह प्रयास कर रहे हैं ? ॥९-१०॥

स्वामिन् ! उस सेवक से क्या लाभ ?, जो आलसी और कायर, उदासीन होकर, अपने स्वामी को सेवक द्वारा करने योग्य काम में लगा हुआ देखता रहता है ॥११॥

हे नाथ ! पूज्य स्वामी जिस पर क्रुद्ध हैं, मुझ सेवक को उसके विषय में बताएँ ताकि आपकी कृपा से मैं तुरन्त उससे दिक्पाल की पूजा करूँ॥१२॥

सेनापति द्वारा ऐसा कहने पर वह चित्तवृत्ति को रोककर एक क्षण योगी की तरह बैठा रहा । तब उस भीषण धनुर्धारी को अवधिज्ञान से ज्ञात हुआ कि प्रभु का पवित्र जन्म हुआ है ॥१३॥

देवराज का वह क्रोध, दुःसह होता हुआ भी, प्रभु के दर्शन से ऐसे शान्त हो गया जैसे अमृत के पीने से ज्वर की पीड़ा और बादल के छिड़काव से जंगल की आग ॥१४॥

हे आर्य ! मैं अज्ञानवश आपका अपमान कर बैठा, अतः मेरा यह एक अपराध क्षमा करें । लोग आपको तथा किसी अन्य को रुष्ट करके आपकी ही शरण में आते हैं ॥१५॥

इन्द्र ने प्रभु के सामने अपने पाप का इस प्रकार बखान करते हुए उसे निरर्थक बना दिया क्योंकि गुरु के चरणों में अपने पाप की निन्दा करके मनुष्य उससे मुक्त हो जाता है ॥१६॥

तब दधि के समान शुभ्र यश वाला इन्द्र एकाएक सिंहासन से उठा जैसे गाढ़ी चाँदनी के कारण दर्शनीय चन्द्रमा उदयाचल से उदित होता है । १७॥

सारी दिशाओं में दृष्टि डालती हुई तथा 'यह क्या है' घबराहट से इस प्रकार बोलती हुई समूची सुधर्मा सभा देवपति इन्द्र के सहसा उठने से क्षुब्ध हो गयी ॥१८॥

तब इन्द्र तीर्थंकर की ओर सात-आठ कदम चला । पूज्यजनों के चरणकमलों के दीखने पर विवेकशील लोगों के लिये यही उचित है ॥१९॥

"मैंने तीनों लोकों के स्वामी को पहले नहीं देखा है, अतः मैं जम्भ के विजेता इन्द्र से भी पहले प्रभु को नमस्कार करूँगा", मानों इसी कारण उसकी छाती पर पहना हुआ उत्तम हार (हिल कर)आगे गया ॥२०॥

इन्द्र ने, जिसका कन्धा बाँए कान के कर्णाभूषण की किरणों से व्याप्त उत्तरीय से विभूषित था, विधिपूर्वक प्रणाम करके घुटने टेक कर जिनेन्द्र की स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥२१॥

प्रणाम करते हुए इन्द्र के सिर के मुकुट की ज्योति रूपी पुष्परस से मधुर चरणकमलों वाले हे देव ! आपको नमस्कार । मथित क्षीरसागर की घनी तथा स्वच्छ तरंगों के समान अतीव निर्मल गुणों से अथाह हे देव ! आपको प्रणाम ॥२२॥

हे जिनेन्द्र ! आप, जिन्होंने अपनी ज्योति के पुंज से प्रसूतिगृह और अन्तरिक्ष में चमकने वाले दीपों तथा ग्रहों के तेज को नष्ट कर दिया है, जहाँ सूर्य की भाँति उदित हुए; वह यादवकुल रूपी उदयाचल प्रशंसा के योग्य है ॥२३॥

इन्द्र इस प्रकार जिनेश्वर की स्तुति करके पुनः सिंहासन पर बैठ गया और सेनापति को आदेश दिया कि सुघोषा नामक घण्टा जल्दी बजाओ ।२४।

उसने स्वर्ग को शब्द से भर देने वाले उस घण्टे को बजाया और देवताओं को प्रभु के स्नात्रोत्सव की सूचना देने के लिये उच्च स्वर में यह घोषणा की ॥२५॥

हे प्रमुख देवताओ ! सावधान होकर सुनो, मैं कुछ कह रहा हूँ। यह इन्द्र जिनेश्वर का अभिषेक करने के लिये आपको बुला रहा है ॥२६॥

सारे देवता उसके शब्द रूपी अमृत के कानों में पड़ने से इस प्रकार रोमांचित हो गये जैसे बादल से सिक्त कदम्ब के वृक्ष चारों ओर खिल उठते हैं ॥२७॥

तत्पश्चात् अतीव स्नेहमयी तथा चंचल आँखों वाली देवांगनाओं के द्वारा देखे जाते हुए इन्द्र ने, अपने अनुचरों के साथ, विमान में बैठकर प्रभु का जन्माभिषेक करने के लिये प्रस्थान किया। २८॥

सामानिक आदि सारे देवता, परिवार सहित, इस प्रकार उसके पीछे गये जैसे सूर्य की किरणें सूर्य के पीछे और हाथियों का झुण्ड यूथ के नेता के पीछे चलता है ॥२९॥

तब भाद्रपद में उमड़े हुए सायंकालीन बादलों की शोभा को धारण करते हुए देवताओं के विविधरंगी विमान आकाश के आंगन में चलने लगे ॥३०॥

भौंरों के समान नीली छवि वाले आकाश ने, देवताओं के कमनीय एवं विशाल विमानों के कारण, जिनसे किरणें बिखर रही थीं, फूलों से भरे उपवन की शोभा प्राप्त की ॥३१॥

इन्द्र ने मनुष्यलोक में दशार्हराज समुद्रविजय के महल में आकर शिवादेवी को ऐसे सुला दिया जैसे रात के समय चन्द्रमा कमलिनी को बन्द कर देता है ॥३२॥

तब इन्द्र, चोर की तरह, चिन्तामणि-तुल्य जिनेन्द्र को लेकर और वहाँ उनका एक प्रतिरूप रखकर तत्काल मेरुपर्वत की ओर चल पड़ा ॥३३॥

वह स्वर्ण-खचित पर्वत, जो बहुमूल्य रत्नों की फैलती हुई कान्ति से अन्धकार को नष्ट कर रहा था, ऐसा लगता था मानों पृथ्वी रूपी नारी की चूडामणि हो ॥३४॥

जिसकी सुपारी, इलायची तथा देवदारुओ से सुगन्धित और सर्पों से रहित होने के कारण सौम्य गुफाओं को देखकर किस रतिचतुर तथा गहनों से सजी नारी ने अपने पति को मोहित नही कर लिया॥३५॥

जिसकी तलहटी में कोकिलो के कण्ठ के समान श्यामल गहन वन ऐसा प्रतीत होता है मानो उसकी कटि से पृथ्वी पर गिरा हुआ काला अधोवस्त्र हो ॥३६॥

प्रिये ! इस श्यामल ताल के पेड को और उज्ज्वल फूलों से लदे इस कदम्ब को देखो। इधर लताओ से सुन्दर वन और मल एव ताप को हरने वाली इन दर्शनीय बावडियो को देखो ॥३७॥

प्राणप्रिये। इस सनातन जिन-चैत्य को, जिसका पवित्र जल पाप तथा मल को दूर करने वाला है देखो और अपने विशाल नेत्रों का फल प्राप्त करो ॥३८॥

जिसके मनोहर वृक्षों से युक्त भद्रशाल नाम से प्रसिद्ध वन में विद्याधर अपनी प्राणप्रिया को इस प्रकार नयी-नयी वस्तुएँ दिखाते हुए घूमते हैं ॥३९॥

जिस पर शोभाशाली कल्पवृक्षो की पंक्तियों से युक्त तथा चन्दन वृक्षों से आनन्दित करने वाले नन्दन नाम के अन्य वन को देख कर वह स्त्री भी हस कर अचानक अपने प्रेमी से बोलने लगी, जो पहले लज्जा तथा नीति के कारण नही बोलती थी ॥४०॥

जो, ऊँचे सनातन जिन मन्दिरो मे नाचती हुई देवांनाओ के चरणो की पायजेबों के गम्भीर शब्द से मानो वहाँ आए हुए सौम्याकृति चारणमुनियो को उनके सुख और संयम का समाचार पूछता है ॥४१॥

उसकी भूमि शुद्ध सोने से खचित थी, चोटियाँ वन के कमनीय अरणि वृक्षों से (भिन्न-भिन्न भागों में) विभक्त थीं। वह नदियों के पेय (मधुर) जल से सुन्दर था और वहाँ कल्पवृक्ष की पंक्तियाँ वृद्धि पा रही थीं ॥४२॥

जिसकी तलहटी में जल के भार से झुका बादल गम्भीर तथा ऊँची गर्जना करता हुआ मानों पृथ्वी के सब पर्वतों में इसके ही साम्राज्य का उद्घोष करता है ॥४३॥

वहाँ देवता खेलने की और पत्नी के साथ रमण करने की कामना करते हैं; और बिम्बों से युक्त जैन मन्दिर संयमी भक्तों की रक्षा करते हैं ॥४४॥

चौड़ी गालों वाली किन्नरियाँ अपने प्रियतमों के साथ जिसकी चट्टानों पर बैठकर खूब गीत गाती हैं। उनके सामने मनुष्यों की स्त्रियाँ क्या हैं ॥४५॥

जिस पर वन, अपनी कोंपलों से मूँगों को मात करने वाले अनेक प्रकार के वृक्षों से युक्त थे। वे आम के पके फलों से पीले थे और उनमें देवता देवांगनाओं के चरण-कमलों में झुक रहे थे ॥४६॥

किन्नर,खेचर आदि जिसकी सोने के समान उज्ज्वल तलहटियों में निवास करते हैं। कौन लक्ष्मी से शोभित सुन्दर कमल की उपासना नहीं करता ? ॥४७॥

जिसके पत्थरों में पड़े प्रतिबिम्ब का, प्रिया की भ्रान्ति से, आलिंगन करने के इच्छुक काम-पीड़ित नायक की उसकी प्रेयसियाँ हँसी उड़ाती हैं, जिससे वह लज्जित हो जाता है ॥४८॥

जो, जब ज्योतिश्चक्र रूपी बैल दिन-रात गाहते हैं, तब अन्धकार रूपी अन्न से भरे विशाल खलिहान में बीच का कीला बनता है अर्थात् बीच के कीले का काम देता है ॥४९॥

सैद्धान्तिक लोग जिनेन्द्र के जन्माभिषेक के जल से पवित्र तथा समस्त संसार की नाभि (केन्द्र) के तुल्य उस पर्वत की ऊंचाई लाख योजन बतलाते हैं ॥५०॥

जहाँ अगुरु के विशाल वृक्षों से सुगन्धित पृथ्वी वस्तुतः वसुधा (धन-सम्पन्न) है। और जहाँ उज्ज्वल मणियों के हार पहने काम-पीडित देवांगनाएं केवल रति-क्रीडा की इच्छा से आती हैं ॥५१॥

वहाँ चमकती मणियों की प्रतिमाओं से युक्त विहार किसके मन को नहीं हर लेते ? वे (विहार) दीवारों में चमकते हुए अनेक मनोरम रत्नों की किरणों से सदा प्रकाशित रहते हैं। उनके द्वारों पर स्थित मकरों से रहित जलाशयो के पानी की तरगों से वेगवान् वायु यात्रियों के शरीर का पसीना दूर करती है। पुतलियों से युक्त तोरणों, कान्तिपूर्ण कलशों, स्वर्णदण्डों तथा कोमल ध्वजों से उत्पन्न जिनकी शोभा मन को लुभाती है ॥५२-५३॥

विद्वान् तथा देवता, विविध प्रकार के श्रेष्ठ रत्नों की आभा से गहन अन्धकार को नष्ट करने वाली तथा सुन्दर वृक्षों से मनोहर इसकी चोटी का निर्भय होकर आनन्द लेते हैं ॥५४॥

जिसकी सोने की चोटी रूपी दीवार में उत्पन्न शाद्वल और कल्पवृक्ष, दूर से देखने पर, चारों ओर इन्द्रनीलमणियो का भ्रम पैदा करते हैं ॥५५॥

वहां शुभ कथाओं पर विचार करने वाले तथा पवित्र गुणों से सम्पन्न विहरणशील चारण मुनि और परम आनन्दस्वरूप चेतना में सलग्न योगी ध्यान में लीन रहते हैं, अतः वहाँ पाप विनष्ट हो जाता है ॥५६॥

इन्द्र इस अद्वितीय मेरुपर्वत की उच्च समतल भूमि के शृंगार जिनेश्वर को अपने पांच रूपों से भजता हुआ पाण्डक वन में पहुँचा ॥५७॥

अन्तःपुर की स्त्रियों सहित ज्योतियों, व्यन्तरों, देवों तथा दानवों के समूह से घिरा, लज्जा से कातर आंखों वाली देवांगनाओं द्वारा बार-बार देखा जाता हुआ पवित्र-हृदय इन्द्र, तीर्थंकर के प्रति अगाध भक्ति रखता हुआ, वहाँ पाण्डुकम्बल से युक्त सोने की शिला की पटिया पर उतरा ॥५८॥

## षष्ठ सर्ग

इसके बाद प्रभु का स्नानोत्सव करने के लिये अन्य सब इन्द्र भी सुमेरु पर्वत पर इस प्रकार इकट्ठे हुए जैसे सन्ध्या के समय पक्षीगण ( रात को ) रहने के लिये वासवृक्ष पर आते हैं ।।१।।

तब देवराज इन्द्र, देवांगनाओं द्वारा चंचल आंखों से तत्परतापूर्वक देखे जाते हुए सौन्दर्यराशि जिनेश्वर को गोद में लेकर सिंहासन पर बैठ गया ।।२।।

इन्द्र की प्रभा की राशि से मिश्रित प्रभु की नीलकमल के समान कान्ति, ताजे केसर के द्रव से युक्त कृष्णसागर की तरंगों की पंक्ति की तरह चमक रही थी ।।३।।

देवनायक इन्द्र की गोद में स्थित, अलसी के फूल के समान कान्ति वाले जिनेश्वर, चम्पक के खिले हुए कोश में बैठे सुन्दर तरुण भौंरे की भाँति शोभित हुए ।।४।।

तब इन्द्र की गोद में बैठे नील प्रभा से सम्पन्न भगवान् ने पर्वत की मध्यवर्ती चोटी पर आसीन गजशिशु की शोभा को जीत लिया ।।५।।

इसके बाद समस्त मनुष्य मिट्टी, चाँदी, सोने तथा रत्नों के घड़ों में नाना प्रकार की औषधियों से मिश्रित जल भर कर प्रभु का अभिषेक करने के लिये वहाँ उपस्थित हुए ।।६।।

देवताओं के हाथों में चन्द्रबिम्ब के समान स्वच्छ कलश ऐसे शोभित हुए जैसे खिले हुए स्वर्ण कमलों के मध्य बैठे उज्ज्वल पंखों वाले राजहंस ।।७।।

तीर्थों से लाए गये निर्मल जल से पूर्ण, चार कोश लम्बे मुँह वाले वे कलश ऐसे शोभायमान हुए मानों प्रभु का स्नानोत्सव करने के लिये पाताललोक से आए अमृतकुण्ड हों ।।८।।

तब विधिवेत्ता देवताओं तथा असुरों के स्वामियों ने सुन्दर एवं दीर्घ भुजाओं रूपी शाखाओं से युक्त, तीनों लोकों को अभीष्ट फल देने वाले जिन रूपी कल्पवृक्ष का विधिपूर्वक अभिषेक किया। वे उस समय अपने हृदयकमलों में यह सोच रहे थे कि आज हमारा देवत्व सफल है, स्वामित्व कृतार्थ है और आज हमने भवसागर को पार कर लिया है। अतिशय हर्ष से वे ऐसे पुलकित हो गये जैसे वर्षा के जल से कदम्ब के कुंज। वे भक्तिरस के कारण लड़खड़ा रहे थे और उनके अंगदों के रत्न ( भीड़ के कारण ) आपस में टकरा रहे थे ॥९-११॥

घड़ों से प्रभु के सिर पर गिरता हुआ वह जल-समूह ऐसे लगता था मानों जिनेन्द्र को देखने को उत्सुक आकाशगंगा का जलप्रवाह हो ॥१२॥

पहले वह जल जिनेन्द्र के शरीर से सिंहासन पर गिरा, वहाँ से पर्वत की चोटी पर, फिर वह वहाँ से भी नीचे जाकर ठहरा। अथवा जड़बुद्धि ऊँचे कहाँ ठहर सकते हैं ? ॥१३॥

सुरों तथा असुरों के स्वामियों ने भी तीर्थंकर के शरीर के सम्पर्क से पवित्र उस जल की वन्दना की। गुणवानों की की गई सेवा मूर्खों को भी तत्काल फल देती है ॥१४॥

प्रभु के सावले शरीर पर लगे हुए क्षीरसागर के दुग्धकण, आकाश में (चमकते) नक्षत्रों तथा नीली शिला पर (जड़े) मोतियों के समान प्रतीत हो रहे थे ॥१५॥

तब देवताओं द्वारा बजाए गये अलौकिक वाद्य मधुर स्वर में बजने लगे। क्या गम्भीर व्यक्ति, पीटे जाने पर भी, कभी कठोर बोलते हैं ? ॥१६॥

देवताओं ने काफूर, कस्तूरी, चन्दन, कालागुरु, कुंकुम आदि से प्रभु की अर्चना करके उन्हें उत्तम पुष्पों, वस्त्रों तथा भूषणों से सजाया ॥१७॥

उनके शरीर पर देवों और असुरों द्वारा लगाया गया रंगबिरंगा, मनोरम कान्ति वाला सुगन्धित लेप, बादलों से घिरे आकाश में सन्ध्या की लालिमा के समान शोभित हुआ ॥१८॥

इन्द्र भी जिनके चरणों की वन्दना करते हैं, पुष्प उन्हीं प्रभु के सिर पर चढ़ कर विराजमान हुए। अथवा पवित्र व्यक्ति कहाँ उच्च स्थान नहीं प्राप्त करते ॥१९॥

जिनेन्द्र अलौकिक आभूषण पहनकर आँखों को अतीव सुन्दर लगने लगे। हंस का शरीर पहले ही मनोरम होता है, स्वर्ण-कमल का सम्पर्क पाने पर तो कहना ही क्या ? ॥२०॥

अलौकिक वस्त्रों से रचित उस वेश ने जगदीश्वर के अद्वितीय सौन्दर्य में तनिक भी वृद्धि नही की जैसे अमृत-स्नान से चन्द्रमा (की कान्ति) में कोई अन्तर नहीं आता ॥२१॥

उस समय तीनो लोको के स्वामी को आनन्द और लज्जा के साथ बार-बार देखती हुई देवांगनाओं के विशाल एवं निर्निमेष नयन कृतार्थ हो गये ॥२२॥

देवो तथा असुरो के कमल-तुल्य नेत्र, अन्य सब विषयों को छोड़कर, एक साथ जिनेन्द्र के रूप पर ऐसे पड़े, जैसे भौंरे खिले हुए कमल-वन पर गिरते हैं ॥२३॥

तत्पश्चात् इन्द्र ने, जिसके कपोल दीप्तिमान् चचल कुण्डलों की किरणों रूपी केसर से व्याप्त थे, हाथ जोड़कर नम्रता-पूर्वक भगवान् की स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥२४॥

जगद्वन्द्य भगवन् ! मैं विनीत, लक्ष्मी के आवास आपके चरणकमलों में प्रणाम करके उत्तम मुमुक्षुओं रूपी राजहंसों द्वारा पूज्य आपकी स्तुति करना चाहता हूँ ॥२५॥

हे नाथ ! सहस्राक्ष इन्द्र भी गुणों के अनुरूप आपके रूप को नहीं देख सकता और सहस्रजिह्व शेषनाग भी आपके उत्कृष्ट गुणों का बखान करने में समर्थ नहीं है ॥२६॥

हे देव ! फिर भी मैं आपकी भक्ति रूपी सखी से प्रेरित होकर आपके गुणों की स्तुति करना चाहता हूँ। क्या बच्चा, माता के कहने पर, तुतलाती वाणी से अपना नाम नहीं बतलाता ? ॥२७॥

हे आर्य ! आपकी स्तुति से मनुष्यों के पूर्वजन्मों के कर्म ऐसे नष्ट हो जाते हैं, जैसे ग्रीष्म के सूर्य की गर्मी से तपायी गयी हिमालय की बर्फ पिघल जाती है ॥२८॥

हे संसार के स्वामी ! स्तुति करने पर आप प्रत्येक अवस्था में पापों को दूर करते हैं। सूर्य, चाहे वह सायंकाल का हो, प्रातः काल का अथवा मध्याह्न का, अन्धकार को अवश्य नष्ट करता है ॥२९॥

हे जिनेश्वर ! संसार में जो एकचित्त होकर भक्ति से आपका स्मरण करता है, सिद्धि रूपी लक्ष्मी अथवा देवताओं की लक्ष्मी निश्चय ही उसका इस प्रकार आलिंगन करती है, जैसे नारी अपने पति का ॥३०॥

हे प्रभु ! आप जिस हृदय में रहते हैं, उसमें किसी दूसरे देवता को प्रवेश करने नहीं देते, फिर भी आप 'विरोध मुक्त' नाम से प्रसिद्ध हैं। अथवा महापुरुषों की वास्तविकता को जाना नहीं जा सकता ॥३१॥

हे जिनेश्वर ! आपकी आज्ञा से ही यहाँ लोगों ने सिद्धि प्राप्त की है, कर रहे हैं और करेंगे। सूर्य के प्रकाश से ही कमल खिले हैं, खिलेंगे और खिल रहे हैं ॥३२।

हे तीर्थंकर ! कुछ मूर्ख तुम्हें छोड़कर स्त्रियों में अनुरक्त देवताओं से प्रेम करते हैं। उन अज्ञानियों के लिये यह उचित है क्योंकि व्यक्ति अपने जैसे लोगों से ही प्रीति प्राप्त करते हैं ॥३३॥

हे जिन ! आपने ही, दूसरों के द्वारा अजेय मोह रूपी पहलवान को जड़ से नष्ट किया है। चन्द्रमा के अतिरिक्त और कोई रात्रि के अन्धेरे को दूर नहीं कर सका है ॥३४॥

हे देव ! यदि आक का दूध गाय के पवित्र दूध की तथा विष अमृत की समानता प्राप्त करे, हे त्रिलोकी के दीपक ! तब दूसरा कोई देवता आपकी बराबरी कर सकता है ॥३५॥

हे नाथ ! अन्य मतों के अनुयायी भी आपको ही आप्त मानते हैं, यद्यपि वे आपको भिन्न-भिन्न नाम देते हैं । हे चिदात्मरूप । पृथ्वी पर वीत-राग सिद्ध ही आप्त होता है, और वह आप ही हैं ॥३६॥

स्वामिन् ! तुम्हारे जिस ज्ञान के सागर में ये तीनों लोक मछली के समान प्रतीत होते हैं, हे परमात्मा रूपी वैद्य ! तुम्हारे उस गुण को सदा नमस्कार ॥३७॥

भगवन् ! आपकी वाणी प्राणियो के लिये जितनी हितकारी है, उतनी अन्य किसी की नहीं । अपनी माता पुत्र से जितना प्रेम करती है, उतना विमाता नहीं, भले ही वह सौम्य हो ॥३८॥

हे जिन रूपी चन्द्रमा ! देवों तथा असुरों द्वारा पूजनीय आपके चरण रूपी इस पवित्र चिन्तामणि के दर्शन कुछ पुण्यात्माओं को ही होते हैं ॥३९॥

भगवन् ! आज आपके मुख के दर्शन से मेरे कर्मों का जाल नष्ट हो गया है, मेरा भाग्य जाग उठा है और मैंने सिद्धि रूपी वधू को वश में कर लिया है ॥४०॥

हे तीर्थंकर ! सदा आपके सौम्य मुख को, जिसकी कांति कभी क्षीण नहीं होती, देखते हुए हमें प्रतीत होता है कि यह ( आकाश का ) चन्द्रमा निश्चय ही अत्रि की आँख की मैल है ॥४१॥

भगवन् ! आपका यह तेजस्वी मुख रूपी दर्पण बहुत अद्भुत प्रतीत होता है, जिसमें दूसरों के मुख कभी प्रतिबिम्बित नहीं हुए ॥४२॥

केवल ज्ञानियों में श्रेष्ठ आपको नमस्कार। हे पुरुष रूपी श्वेत कमल ! आपको नमस्कार। भवसागर को तैरने वाले आपको नमस्कार। सेवकों को पार लगाने वाले आपको प्रणाम ॥४३॥

हे सर्वज्ञ ! संसार कुछ भी कहे, किन्तु मेरे विचार में आप ही एकमात्र देव हैं, जिसे देखते ही तत्त्वज्ञों की आँखें हर्षाश्रु बरसाने लगती हैं ॥४४॥

हे जगत्पति ! आपकी स्तुति करने से यदि वाणी रुक गयी है, वह इसलिये नहीं कि आपके गुण इतने ही हैं बल्कि यह थकावट अथवा अज्ञान के कारण है, देवराज इस प्रकार ( जिनेन्द्र की ) स्तुति करके चुप हो गया ॥४५॥

स्तनों रूपी कुम्भों के भार से कुछ झुकी हुईं, शिरीष के फूल से भी अधिक कोमल, मस्ती से अलसाई तथा विलास के कारण अधमुँदी आँखों वाली जो अप्सराएँ थीं ॥४६॥

अतीव कोमल रेशमी वस्त्र से ढकी, करधनी के सूत्रों के उत्तम रत्नों से युक्त जिनकी जघनस्थली ऐसे शोभायमान थी मानों वह कामदेव की बैठने की गद्दी हो ॥४७॥

जिनकी नील मणियों के कर्णाभरणों से युक्त, सोने के समान कांति वाली गालें, शश के काले चिह्न से अङ्कित अष्टमी के चमकते हुए चन्द्रमा की शोभा को मात कर रही थी ॥४८॥

वीर काम के बाणों के प्रहार से पीड़ित देवगण, जिनके तूँबियों के समान कठोर स्तनों को छाती पर रखकर ( अर्थात् उनका आलिंगन करके ) आनन्द से आँखें बन्द कर लेते हैं और पीड़ा को भूल जाते हैं ॥४९॥

जिनकी अतीव पुष्ट, चम्पक पुष्प के समान कान्ति वाली, सौन्दर्य एवं सलोनेपन के रस में गन्ने के समान कोमल जंघाएँ काम के हाथी की सूण्ड के समान प्रतीत होती थीं ॥५०॥

जिनके होंठ पके हुये बिम्ब फल के समान लाल थे, पेट त्रिवली से विभूषित थे, और मनोरम लम्बी बाहें ऐसी अद्‌भुत लगती थीं मानों वे वीर काम के भाले हों ॥५१॥

बजते हुए नूपुरों के शब्द से मनोहर तथा निर्दोष शोभा से सम्पन्न जिनके पैर, भिनभिनाते भौंरों से शोभित खिलते हुए स्वर्ण-कमल को पराजित करते थे ॥५२॥

तब गम्भीर ध्वनि वाले चार प्रकारके वाद्योंके बजाए जाने पर तथा गन्धर्व बालाओं द्वारा ऊपर मुँह करके सुन्दर गीत गाने पर, नृत्यकला में पारंगत तथा आनन्द रस से परिपूर्ण उन मृगनयनी अप्सराओं ने, इन्द्र की आज्ञा से, देवकुमारों के साथ जिनेन्द्र के सामने संगीत प्रारम्भ किया ॥५३-५४॥

ताल के अनुकूल नृत्य करती हुई (उनमें से) किसी एक ने, जिसकी रेशमी चोली कसकर बंधी थी और वेणी स्थूल नितम्बों को छू रही थी, इन्द्रों को क्षण भर के लिये चित्र में अंकित-सा कर दिया ॥५५॥

किसी दूसरी ने, जिसके हाथ हिलते कंगन से सुशोभित थे और मुंह मुस्कराहट से खिला हुआ था, अपनी ढीली नीवी को विलासपूर्वक कसकर बांधा मानों वह सम्राट् काम की मुद्रा हो ॥५६॥

कामातुर कोई अन्य देवांगना, जिसके पाँव में नूपुर बज रहे थे, एक हाथ कटि पर रखकर और दूसरे से बार-बार अभिनय करती हुई जल्दी-जल्दी चलने लगी ॥५७॥

हिलते हुए कुण्डलों की कान्ति रूपी जल से धुलने के कारण चमकती गालों वाली कोई दूसरी, सामने नाचते हुये किसी कामाकुल-चित्त युवक को लड़खड़ाता देखकर हंस पड़ी ॥५८॥

छरहरे शरीर वाली कोई अन्य अपने अङ्गों को सुन्दर ढंग से हिलाती हुई (रम्य अङ्गहारोऽङ्गविक्षेपो यस्याः सा) नृत्य करने लगी । वह अपने मुख

के सौन्दर्य से चन्द्रमा को मात कर रही थी, उसके नितम्बों पर करधनी बंधी थी और उसकी दृष्टि विलासपूर्ण थी ॥५६॥

इसी प्रकार कुछ देवता हर्षातिरेक के कारण आकाश में उछलने लगे, कुछ ने उच्च स्वर में जयकार किया और कुछ ने गम्भीर सिंहगर्जना की ॥६०॥

इस प्रकार विधिज्ञ देव प्रभु के सामने विधिपूर्वक विभिन्न नामों वाला सुन्दर नृत्य करके आनन्दित हुए। अपना कार्य सफल होने पर कौन प्रसन्न नहीं होते ? ॥६१॥

अपनी पत्नियों सहित इन चार प्रकार के देवों ने बाईसवें तीर्थंकर के जन्माभिषेक का उत्सव सम्पन्न करके अपने को अत्यधिक कृतार्थ माना ॥६२॥

तीर्थंकर का स्नानोत्सव पुण्यात्माओं का क्या-क्या कल्याण नहीं करता ? वह पाप को नष्ट करता है, दुष्कृत को समाप्त करता है, रोगों को दूर करता है, दुर्भाग्य को ढकता है, कल्याण देता है, लक्ष्मी को आकर्षित करता है, पुण्य की रक्षा करता है, दुर्गति के मुंह को आच्छादित करता है और कष्ट से रक्षा करता है ॥६३॥

तत्पश्चात् जिनेन्द्र को माता के पास लेटा कर देवनायक इन्द्र, जिसके समूचे पाप नष्ट हो गये थे, अष्टम द्वीप तीर्थ में जिन-यात्रा की व्यवस्था करके, देवताओं के साथ प्रथम कल्प (स्वर्ग) में गया ॥६४॥

## सप्तम सर्ग

स्नानोत्सव के पश्चात् दासियों ने समुद्र-विजय कोक हा—महाराज ! आपको बधाई । आपके उत्तम पुत्र पैदा हुआ है ॥१॥

राजा उनके वचनों से ऐसे आनन्दित हुआ मानों उसने अमृत में स्नान कर लिया हो । अथवा उस जैसे पुत्र के जन्म से किसे प्रसन्नता नहीं होती ? ॥२॥

तब राजा ने प्रसन्न होकर, बधाई देने वाली उन सब चेटियों को वस्त्रों, आभूषणों तथा स्वर्ण से कल्पलताओं के समान बना दिया ॥३॥

प्रसन्नता से खिले मुख वाले उसने, जिसका शासन इन्द्र के समान था, तुरन्त अधिकारियों को बुलाकर यह आज्ञा दी ॥४॥

यादव-कुल रूपी उदयाचल पर पुत्र रूपी सूर्य उदित हुआ है । आप सब सावधान होकर यह सुनें ॥५॥

कारागार में जो बन्दी और बाड़े में जो गायें बन्द हैं, आप मेरी आज्ञा से आज उन सबको छोड़ दें ॥६॥

आप पिंजरों रूपी कमलों में बन्द पक्षियों रूपी भौंरों को सूर्य की किरणों के समान स्वेच्छाचारी बना दें । (अर्थात् उन्हें मुक्त कर दें) ॥७॥

और समूचे नगर में अमारि की घोषणा करें क्योंकि सब प्राणियों की रक्षा करने वाला मेरा पुत्र जन्मा है ॥८॥

आप सारे नगर को उत्तम चन्दन से लसलसा, पंचरंगे फूलों से ऊबड़ खाबड़ और धूप से धूमैला बनाएं ॥९॥

राजा की उपर्युक्त आज्ञा सुनकर प्रसन्न हुए अधिकारी महल से ऐसे बाहर चले गये जैसे वन से हाथी ॥१०॥

उन्होंने तत्काल राजा के सब आदेशों की पूर्ति की। राजाओं के कार्य आदेश से सिद्ध होते हैं, जैसे देवताओं के इच्छा से ॥११॥

उस समय सूर्यपुर तोरणों पर फहराती हुई ध्वजाओं से ऐसा सुन्दर लग रहा था मानों प्रभु के पुण्यों के प्रभाव से (पृथ्वी पर) गिरा स्वर्ग का टुकड़ा हो ॥१२॥

विविध सजावटों से भूषित राजा का सभागृह ऐसे शोभित हुआ मानों प्रभु के जन्मोत्सव को देखने के लिये स्वर्गरूपी विमान आया हो ॥१३॥

सुन्दर स्त्रियों द्वारा गाये गये मधुर धवलों और मंगलों के कारण कोई दूसरा शब्द, कानों में पडा हुआ भी, सुनाई नहीं देता था ॥१४॥

तब अपने लिये धन चाहने वाले अनेक याचकों और राजाओं से राजमार्ग ऐसे भर गया जैसे पक्षियों से फलदार वृक्ष ॥१५॥

उस समय मयूरों के नृत्य का हेतु तथा बादल की गर्जना को मात करने वाला वाद्यों का अतीव गम्भीर शब्द दिशाओं में फैल गया ॥१६॥

तत्पश्चात् राजलक्ष्मी से युक्त दशार्ह देश के अधिपति समुद्र-विजय जो दूसरे इन्द्र के समान थे, सिंहासन पर विराजमान हुए। उनके शरीर पर कुंकुम, कापूर तथा हरिचन्दन का लेप लगा हुआ था, होंठ उत्तम सुगन्धित पान से लाल थे। वे हंस के पंखों की छवि के समान स्वच्छ तथा सुन्दर चीनी रेशमी वस्त्र पहने हुए थे तथा हार, अर्धहार, बाजूबन्द आदि प्रमुख भूषणों से भूषित थे। उनका सिर, आकार में पूर्ण चन्द्र बिम्ब के समान छत्र से शोभित था। महिलाएं देवताओं को मोहने वाली चंवरियों से उन्हें हवा कर रही थी। मंगलपाठ करने मे निपुण व्यक्ति पग-पग पर उनकी स्तुति कर रहे थे और समस्त मन्त्री, सामन्त तथा पुरोहित उनके साथ थे ॥१७-२१॥

तत्पश्चात् (अर्थात् सिंहासन पर बैठकर) उसने सेठों, राजाओं तथा प्रधान पुरुषों द्वारा किए गये प्रणाम को आदरपूर्वक स्वीकार किया ॥२२॥

तब नर्तकों ने नृत्य आरम्भ किया, गायकों ने मनोहर गीत, कुल-नारियों ने रास और बन्दियों ने विरुदावली ॥२३॥

तुम्हारे प्रताप के दीपक के सामने तीनों लोक उल्लू (के समान) हैं, सूर्य शलभ है और सुमेरु पर्वत मात्र बाती ॥२४॥

आग को पानी बुझा देता है, सूरज को बादल ढक लेता है, परन्तु राजन् ! तुम्हारे तेज को कोई भी कम नहीं कर सकता ॥२५॥

हे स्वामी ! तुम्हारे शत्रुओं की जो स्त्रियाँ (पहले) महलों में सुखप्रद शय्याओं पर सोती थी तुम्हारे क्रुद्ध होने पर (अब) वे पर्वतों की शिलाओं की पटियों पर सोती हैं ॥२६॥

राजन् ! रण रूपी रात्रि में जब तुम्हारी) चन्द्रहास नामक खड्ग दिखाई देती है, तब तुम्हारे शत्रु अपनी प्रियाओं से बिछुड़ जाते हैं ( अर्थात् मर जाते हैं ) जैसे चकवे रण के समान रात में चाँदनी को देखकर चकवियों से वियुक्त हो जाते हैं ॥२७॥

अनेक प्रदेशों में बहती हुई तथा भगवान् शंकर के सिर पर खेलती हुई गङ्गा के समान तुम्हारी आज्ञा, नाना देशों में चलकर और राजाओं के सिरों पर खेलकर समुद्र तक फैल गयी है ॥२८॥

राजन् ! तुम्हारे दान से उद्धत तथा गुणों से उत्साहित याचक युद्ध-भूमि-तुल्य (घर के) आंगन में, और तुम्हारे चलाने से तीव्र तथा धनुष की डोरी से छोड़े गये बाण समरांगण में आपकी विजय को बतलाते हैं ॥२९॥

चन्द्रमा की उज्ज्वल कांति भी सूर्य के सामने क्षीण हो जाती है, किन्तु हे नाथ ! आपकी कीर्त्ति कहीं भी मन्द नहीं पड़ी ॥३०॥

राजन् ! आप इस पृथ्वी की रक्षा करते हुए तथा न्यायपूर्ण नीति का विस्तार करते हुए सौ वर्ष तक जीओ ॥३१॥

राजा ने बन्दियों द्वारा इस प्रकार गायी गई अपनी मोतियों के समान निर्मल कीर्त्ति को सुना, जो कानों के लिए अमृत के समान ( सुखद ) थी ॥३२॥

तब राजा ने याचकों की इच्छा को धनराशि से पूरा कर दिया और इन्द्र, यम, वरुण तथा कुबेर की ( चारों ) दिशाओं को यशराशि से भर दिया ॥३३॥

राजा ने, याचकों के मनोरथों को धन से पूरा करते हुए, बारह दिन तक चलने वाला पुत्र के जन्म का महोत्सव किया ॥३४॥

राजा ने श्रेष्ठ यादवों को अपने घर बुलाकर और उन्हें यथायोग्य भोजन कराके उनका गौरव-पूर्वक सम्मान किया ॥३५॥

क्योंकि माता ने जगत्प्रभु के गर्भ में आने पर, स्वप्न में अशुभ रत्नों से युक्त चक्र की देदीप्यमान नेमि देखी थी, अतः माता-पिता ने स्वप्न के अनुसार अपश्चिम आदि की भाँति प्रभु का नाम अरिष्टनेमि रखा ॥३६-३७॥

विभिन्न देवताओं की धात्रियों रूपी माताओं द्वारा दुलारा जाता हुआ यदुकुल रूपी कमल का वह सूर्य चन्द्रशाला में इस प्रकार बढ़ने लगा जैसे मालियों द्वारा पाला गया कल्पवृक्ष जल भरे वन में ॥३८॥

———

# अष्टम सर्ग

इसके बाद भगवान् पिता के घर में माता-पिता और बन्धुजनों की इच्छाओं के साथ इस प्रकार बढ़ने लगे जैसे सुमेरु पर्वत पर नया कल्प वृक्ष अपने अभीष्ट दान आदि मुख्य गुणों के साथ बढ़ता है ॥१॥

प्रियंगु लता के समान कान्ति वाला प्रभु का शरीर ऐसे शोभित हुआ मानों वह मरकत मणियों के टुकड़ों से निर्मित हो अथवा अंजन के कणों से गठित हो अथवा नये मेघों से आच्छादित हो ॥२॥

सरोवर के कमल को छोड़कर लक्ष्मी ने भगवान् के चरण-कमल का आश्रय लिया। निश्चय ही परिचित वस्तु के सुन्दर होने पर भी सब नयी चीज से प्यार करते हैं ॥३॥

अर्गला अत्यधिक कठोरता के कारण और शेषनाग का शरीर विषपूर्ण होने के कारण प्रभु की सीधी सुन्दर भुजाओं की समानता प्राप्त नहीं कर सके ॥४॥

लोगों की आँखों को आनन्द देने वाला उत्कृष्ट सौम्य गुण भगवान् के परम पवित्र मुख पर ऐसे व्याप्त हो गया जैसे उज्ज्वल किरणों का समूह चन्द्रमा के पूर्ण मण्डल पर ॥५॥

शम रूपी अमृतरस की तरंगों से व्याप्त तथा सलोनेपन रूपी अंजन से अंजी पुतलियों वाले प्रभु के दोनों नेत्र, जिन्होंने कमल के सौन्दर्य को परास्त कर दिया था, अतीव शोभा पा रहे थे ॥६॥

प्रशंसनीय जिनेश्वर नगर-वासियों को मोहित करते हुए, समान उम्र वाले यदुकुमारों के साथ, जिनमें कृष्ण प्रमुख थे, शुभ वन और भवन में भी खेलने लगे ॥७॥

गजमति प्रभु ने धीरे-धीरे बचपन को पार करके और नव यौवन को प्राप्त करके संसार की आँखों के लिये अमृत के समान (आनन्ददायक) सुन्दर शरीर विकसित किया (धारण किया) ॥८॥

जिनेन्द्र को देखकर विनयावनत जनता ने हृदय में सोचा कि क्या यह जगत् का पालन करने के लिये इन्द्र आया है अथवा शरीर धारण करके कामदेव ? ॥९॥

उसका गुण दूसरों की भलाई के लिये था, निपुणता संसार को बोध देने वाली थी, ऐश्वर्य समस्त योगियों को अभीष्ट था और सज्जनता लोगों का सन्ताप दूर करने में समर्थ थी ॥१०॥

भवसागर से मुक्ति देने वाले उन पूज्य के पास नवयौवन, अनुपम समृद्धि, उत्तम रूप-सौन्दर्य तथा अद्भुत प्रभुत्व था, परन्तु इनसे उनके मन में कोई विकार पैदा नही हुआ ॥११॥

ससार मे उन्ही के चरण-कमल पूजनीय है, जो तरुणावस्था में भी विकारों से मुक्त रहते हैं। नदी के वेग से आहत होकर कौन-से वृक्ष नहीं गिरते ? विरले देवदारु ही सीधे रहते हैं ॥१२॥

तत्पश्चात् अपनी सम्पदा की राशि को बढ़ा कर (विभिन्न) ऋतुएं, अपने वृक्षों के पुष्पों के उपहार भेंट करती हुई, उस उदयशील पवित्र तीर्थंकर की सेवा में उपस्थित हुई ॥१३॥

धीरे-धीरे शिशिर की शोभा को कम करता हुआ, पेड़ों को मलय-पवन से पल्लवित करता हुआ तथा कोकिलाओं के शब्द को फैलाता हुआ ऋतुराज वसन्त वन-भूमि में अवतरित हुआ ॥१४॥

नाना प्रकार के पत्तों, फूलों और फलों से भरी तथा मस्त पक्षियों के कर्णप्रिय शब्द से गुंजित समूची वनस्थली सहृदयो के हृदयों को आनन्दित करने लगी ॥१५॥

मीठी मंजरियों से प्रसन्न तथा भिनभिनाते भौंरों रूपी बन्दियों से सम्मानित कौन-सा आम का पेड़, हरे-भरे मैदानों तथा फूलों से लदे चम्पकों के साथ, मन को मोह नहीं लेता था ॥१६॥

फूलों रूपी मोतियों से दिशाओं को भासित करने वाले, चमकते भौंरों रूपी मणियों की कांति से युक्त तथा पत्तों के कारण लाल उस तिलक वृक्ष ने वनलक्ष्मी के तिलक के सौन्दर्य को धारण किया ( अर्थात् वह वनलक्ष्मी के माथे का तिलक प्रतीत होता था ) ॥१७॥

फूलों तथा फलों से लदी आम्रवृक्षों की पंक्ति युवा पक्षियो के मधुर शब्द से पथिक को, उसका उचित आतिथ्य करने के लिये, गौरव पूर्वक बुला-सी रही थी ॥१८॥

अमराइयों के घने वन में अपनी सहचरी का आलिंगन करने को उत्सुक तोते को देखकर कौन विरही, मार्ग में अपनी पत्नी को बार-बार याद नहीं करता था ॥१९॥

उद्यानों में विलासी जनों को अपनी प्रियाओं के गले में भुजाएं डाले देखकर कामातुर विरही, प्रेयसियों को याद करते हुए, विकल होकर पृथ्वी पर लोटने लगे ॥२०॥

किसी सुन्दर रमणी ने पति को न पाकर, लताओं के तले कमलों को हिलाने वाली मलय-समीर को हिम तथा विष से अधिक नहीं माना (अर्थात् उसके लिये मलय-पवन भी बर्फ और जहर के समान पीड़ादायक थी ॥२१॥

वायु से हिलते वृक्षों वाले उद्यान में रमण करने की इच्छुक दूसरी दयालु नायिका ने, मल्लिका के फूलो को बीनने का यत्न करते हुए बिल्कुल नए प्रिय को रोक दिया ॥२२॥

कुम्भ-तुल्य कठोर स्तनों को आनन्द देने वाले प्रियतम के हाथ ने मनोरम एवं विस्तृत कुंज में, प्रथम समागम से व्याकुल प्रिया को सरस मौसमी पत्तों से पंखा किया ॥२३॥

मधुर तथा उत्तम (काम) रस से परिपूर्ण अन्य कामिनी ने, "कोप छोड़ो, प्रसन्न होओ, अपने पांव पड़े मुझे देखो" यह कहते हुए अपने प्रेमी का आलिंगन किया ॥२४।

मधु-पान से प्रसन्न-मन भ्रमर रूपी युवक ने कमलिनी-नायिका के मधुर तथा मनोहर अधर-पल्लवों से युक्त अतीव मधुर एवं प्रसन्न मुख-कमल का पान किया ॥२५॥

तारागण आकाश छोडकर, मानों वसन्त की शोभा देखनेके लिये खिली हुई कुन्दलताओं के फूलों के बहाने पृथ्वी पर उतर आए ॥२६॥

तालाबों में स्वर्ण-कमलों के कोश, जलदेवता के द्वारा काम को स्नान कराने के लिए उठाए गये रस से पूर्ण शोभाशाली कलशों के समान शोभित हुए ॥२७॥

वसन्तोत्सव में कामिनियों ने अपने प्रियों के साथ नयी कोंपलों के मुकुट धारण करके उद्यान में और भवन में भी क्रीड़ा और झूले में निरन्तर उनकी भुजाओं को पकड़ने का सुख अनुभव किया ॥२८॥

रातों को बहुत छोटी बनाता हुआ तथा वसन्त-सहित चैत्र मास द्वारा जनित सौन्दर्य को अपनी सम्पदा से मात करता हुआ ग्रीष्म धरती पर आया ॥२९॥

ग्रीष्म ऋतु ने वृक्षों के समूचे फलों को सूर्य की किरणों से ऐसे पका दिया जैसे कुम्हार नाना रंगों के कारण मनोहर मांगलिक घड़ों को आग से पकाता है ॥३०॥

ग्रीष्मकाल में युवक, सुगन्धित कमलों से गिरते पराग के कणों से रंगबिरंगे जलाशयों मे कामिनियों के साथ आनन्द से खेलने लगे ॥३१॥

गर्मी में भौंरे ने पाटल के खिले हुए पुष्पों के ताजे मीठे मकरन्द का इस प्रकार पान किया जैसे प्रेमी प्रियतमा के अधर का पान करता है ॥३२॥

क्या प्रचण्ड सूर्य से तपी धूल, धधकती आग की चिनगारियों के समान (गर्म) वायु तथा पत्तों से रहित टेसू आदि पेड़ ग्रीष्म में पथिकों के लिये दुःख-दायी नहीं थे ? ॥३३॥

इसके बाद सूर्य से उत्पन्न थकावट को जलवर्षी मेघमाला द्वारा दूर करता हुआ तथा नए कदम्ब वृक्षों के समूह को बढ़ाता हुआ पावस प्रकट हुआ ॥३४॥

खिले फूलों के पराग से दिशाओं रूपी नारियों के मुखों को सजाता हुआ, पवन से कम्पित सुन्दर विचकल वृक्ष मधु के लोभी भौंरों को कष्ट देने लगा ॥३५॥

नयी स्वर्णकेतकी के सुन्दर पराग की राशि से उत्पन्न उज्ज्वल सुगन्ध को धारण करती हुई तथा ग्रीष्मकाल की गर्मी को दूर करती हुई बरसात की ठण्डी हवा किसे सुख नहीं देती थी ? ॥३६॥

युद्धकला में दक्ष होते हुए भी कामातुर विलासी कामनृपति के नगाड़ों के समान मेघों की गड़गड़ाहट सुनकर नयी कामिनियों के चरणों में गिर पड़े ॥३७॥

इस काम रूपी कपटी योगी की कोई विचित्र शक्ति सबको जीत लेती है, जिसके वशीभूत होकर समर्थ इन्द्रियों और मन वाला व्यक्ति भी न सुनता है, न देखता है और न कुछ जानता है ॥३८॥

खूब पानी बरसाती हुई, मधुर गर्जना करती हुई, बिजली से युक्त तथा तेज वायु से प्रेरित नयी मेघमाला, कामराज की गजघटा के समान आकाश में घूमने लगी ॥३९॥

तत्पश्चात् सूर्य को अतीव निर्मल बनाती हुई और कमलों से भरे जल को स्वच्छ करती हुई शरद ऋतु, जिसमें बादल सफेद हो जाते हैं, प्रभु को आनन्दित करने के लिये उपस्थित हुई ॥४०॥

सुन्दर सरोवरों में खिले कमलों की पंक्तियाँ, जिन पर भौंरे बैठे थे, ऐसे शोभित हुईं मानों जल देवता ने शरद् के नवीन सौन्दर्य को देखने के लिये अपनी आँखें सैकड़ों प्रकार से फैलायी हों ।।४१।।

जल स्वच्छ हो गया, चावल पक गये, हंस शब्द करने लगे, कमल खिल उठे । मानों शरद् ऋतु के गुण मिलकर आनन्दपूर्वक सभी जलाशयों में उतर गये ।।४२।।

पृथ्वी पर कोई शरद् रूपी वृद्धा विजयी है ( उत्कर्ष सहित विद्यमान है ), उसमें चंचल बादल जल से रहित हैं, वह खिले हुए काश-पुष्पों रूपी चमकीले श्वेत केशों से अङ्कित है और उसके पके चावलों के कण रूपी दांत गिर गये हैं । वृद्धा के स्तन दूध से खाली होते है, उसके सफेद बाल काश के फूलों के समान होते हैं और चावलों जैसे उसके दांत गिर जाते हैं) ।।४३।।

शरत्काल में मदमस्त साण्ड धरती खोदकर अपने सिर पर धूल फेंकते हैं । क्या मदान्ध बुद्धि वाले कभी उचित और अनुचित का विचार करना जानते हैं ? ।।४४।।

वर्षा के बीतने पर (अर्थात् शरद् में) नदियों और मोरों ने क्रमशः उद्धतता और अहंकार छोड़ दिया । बल और पुष्टि देने वाले प्रिय जन के चले जाने पर किसके दर्प रूपी धन का नाश नहीं होता ? ।।४५।।

उसमें, निरन्तर जल बरसाने के कारण श्वेत बादलों से आच्छादित आकाश को, छरहरे शरीर पर चन्दन का लेप लगी नारी के समान देखकर कौन प्रसन्न नहीं हुआ ? ।।४६।।

इसके बाद जैसे तेज वायु पुष्पवाटिकाओं को हिलाती है, उसी प्रकार दरिद्रों के परिवारों को कपाती हुई हेमन्त ऋतु आई, जिसमें सूर्यमण्डल आग की चिंगारी में बदल गया था (अर्थात् उसका तेज मन्द पड़ गया था) ।।४७।।

उसमें दिन, दुष्टों की प्रीति की तरह धीरे-धीरे लगातार छोटे होते गये और सर्दी सज्जनों के प्रेम की तरह प्रतिदिन बढ़ने लगी ।।४८।।

विलासिनियों ने मोतियों की उज्ज्वल माला को छोड़कर तेज आग का सेवन किया। बुद्धिमान् को समय पर शत्रु का भी आश्रय लेना चाहिये ॥४६॥

तदनन्तर गुणों में अशीतल (अर्थात् गर्म प्रकृति वाली) शिशिर ऋतु आयी, जिसमें विरहिणियों के मन-रूपी वनों में काम की ज्वाला भड़क उठती है और हिमपात से कमलों के वन जल जाते हैं ॥५०॥

वसन्त में जो भौंरे खिले स्वर्णकमलों के वन में स्वेच्छा से मकरन्द का पान करते थे, वे भी माघ में बबूलों पर मंडराते हैं। विधाता की गति विचित्र है ॥५१॥

उस ऋतु में यद्यपि युवतियों ने चन्दनादि के लेप, कमलशय्या, मालादि को छोड़ दिया था तथापि उन्होंने केवल शीत के बल से योगियों के भी मन को वशीभूत कर लिया ॥५२॥

केतकी, चम्पक, कुन्द तथा कमलों के पाले से मर जाने पर भौंर शिरीष-वन में घूमने लगा। जग में सभी ऊपर उठे हुए व्यक्ति का सहार लेते हैं ॥५३॥

प्रभु ने ऐसी मनोरम ऋतुओं में भी कभी विषयों की इच्छा नहीं की वन में रहता हुआ भी मृगराज सिंह क्या कभी मधुर फल खाता है ? ॥५४॥

वीर काम ने जगत्पूज्य प्रभु पर जो-जो अचूक शस्त्र चलाया, वह-वह इस प्रकार निस्तेज (निष्फल) हो गया जैसे क्षीर सागर में इन्द्र का वज्र ॥५५॥

तब एक दिन प्रभु खेलते हुए शस्त्रशाला में पहुँचे। वहाँ उन्होंने नारा यण के पाञ्चजन्य शंख को देखकर उसे अपने रक्ताभ हाथ में ऐसे उठा लिया जैसे उदयाचल अपनी चोटी पर चन्द्रबिम्ब को धारण करता है ॥५६॥

तीनों लोकों के स्वामी के कर-कमल पर रखा बर्फ के गोले से भी अधिक उज्ज्वल वह शंख, प्रफुल्ल कमल पर बैठे हंस शावक की शोभा को चुरा रहा था ॥५७॥

जिनेन्द्र द्वारा फूंके गये उस पाञ्चजन्य से बजते हुए तबले की भाँति शब्द पैदा हुआ। वह मथे जाते समुद्र की गर्जना के समान गम्भीर था तथा एक साथ सभी दिशाओं में व्याप्त हो गया था। उसने श्रीकृष्ण के स्पृहापूर्ण हृदय में भय पैदा कर दिया, जिससे वे नितान्त अपरिचित थे। पर्वतों की गुफाओं से उठी प्रतिगूंज से वह तीव्र हो गया। प्रलय काल के समान उसने तीनों लोकों को शब्द से भर दिया और उसे मेघ-गर्जना समझकर मयूरियां नाचने लगीं ॥५८-६०॥

तब कुछ हैरान हुए मुरारि ने, प्रभु के अथाह बल को जानने की इच्छा से, मुस्करा कर भगवान् को कहा—भाई ! मेरी भुजा तो झुकाओ ॥६१॥

भगवान् ने नारायण की भुजा को कमलनाल की तरह आसानी से झुका दिया। हाथी की सूण्ड तभी तक दृढ़ होती है जब तक उसे सिंह नहीं छूता ॥६२॥

इसके बाद श्रीकृष्ण ने संसार के एक मात्र स्वामी नेमिप्रभु की लम्बी भुजा को पकड़ा किन्तु उसे झुकाने में सफल नहीं हुए। उस समय वे कल्प-वृक्ष की शाखा पर लटके बन्दर के समान लगते थे ॥६३॥

तब प्रभु ने नारायण को कहा—"हे लक्ष्मीपति ! तुम निर्भय होकर इस समूचे राज्य का स्वेच्छा से पालन करो। समर्थ होते हुए भी मुझे इसकी चाह नहीं" ॥६४॥

लक्ष्मी, सौन्दर्य, विलास, वंश, घर, नारियों के आलिंगन की कामना छोड़कर, वैषयिक सुख को तत्त्वतः कष्टकर एवं तुच्छ मानते हुए तथा अक्षय आनन्द के हेतु ज्ञान, तोष तथा शान्ति के सुख का भोग करते हुए जिनेन्द्र इस प्रकार पिता के घर में, यौवन में भी, शान्त (विषयों से विमुख) रहे ॥६५॥

———

## नवम सर्ग

यह जानकर कि नेमिप्रभु भोग भोगने योग्य हो गये हैं, माता-पिता ने पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर एक दिन श्रीकृष्ण को यह कहा ॥१॥

पुत्र ! ऐसा प्रयत्न करो कि यह नेमिकुमार वधू का हाथ स्वीकार कर ले, जो भोग-सम्पदाओं का चिह्न है ॥२॥

श्रीकृष्ण ने यह बात अपनी सब पत्नियों को कही। ऐसे कामों में बहुधा स्त्रियाँ ही निपुण होती हैं ॥३॥

तब एक दिन श्रीकृष्ण की सत्यभामा आदि पत्नियों ने नेमि को चतुर शब्दों में स्नेहपूर्वक यह कहा ॥४॥

नेमिनाथ ! यौवन की यह मनोहर श्री प्रतिक्षण इस प्रकार क्षीण हो रही है जैसे रात्रि के अन्तिम भाग में चन्द्रमा की किरणों की राशि ॥५॥

इसलिये तुम भोगों को न भोग कर इस पवित्र यौवन को जंगल में गड़े धन की तरह क्यों ऐसे व्यर्थ गंवा रहे हो ॥६॥

नेमि ! तुम्हारा रूप सबको मात करने वाला (सर्वोत्तम) है, सौन्दर्य जगत् को प्रिय है, चातुरी अवर्णनीय है, सलोनापन अनुपम है। इन्द्र भी तुम्हारी प्रभुता की कामना करते हैं। तुम्हारी महिमा देवताओं की भी पहुँच से परे है। हे कुमार ! अधिक क्या, जग को आनन्द देने वाले समूचे गुण तुम्हारे में इस प्रकार विद्यमान हैं जैसे तारे आकाश में ॥७-९॥

परन्तु विभूति, सौन्दर्य, रूप आदि मनुष्यों के गुण पत्नी के बिना ऐसे अच्छे नहीं लगते जैसे रात्रि के बिना चाँदनी ॥१०॥

इसलिये हे बुद्धिमान् देवर ! रति में विघ्न डालने वाली लज्जा को छोड़ो और यौवन-वृक्ष का फल तुरन्त ग्रहण करो ॥११॥

हे कुमार ! चपलनयनी युवतियों से विवाह करो और उनके साथ भोगों को इस प्रकार भोगो जैसे देवता अप्सराओं के साथ ॥१२॥

जो रूप और सौन्दर्य से सम्पन्न, शील रूपी आभूषण को धारण करने वाली, लावण्यामृत बहाने वाले घने तथा कठोर स्तनों से युक्त, स्वर्णकमल के आन्तरिक भाग के समान गोरी, मृगनयनी कुलीन युवती को नहीं भोगते, वे निश्चय ही विधाता द्वारा ठगे गये हैं ॥१३-१४॥

संसार में जो सारपूर्ण है, वह निश्चय ही ये मदमाती युवतियाँ हैं। यदि वे तुझे सारहीन प्रतीत होती हैं, तो तू गधे के समान मूर्ख है ॥१५॥

नेमि ! वास्तविकता यह है, फिर भी हम तुम्हारी बुद्धि (विचारधारा) को नहीं जानतीं या तुम सचमुच सिद्धि रूपी स्त्री के समागम के इच्छुक हो ॥१६॥

हे यादव ! यह निश्चित है कि मोक्षावस्था में भी सुख ही भोगा जाता है। वह यदि यहीं (संसार में) मिल जाए, तो बताओ उसमें (मोक्ष के सुख में) क्या विशेषता है ? ॥१७॥

भाभियों की ये विवेकहीन बातें सुनकर जगत्प्रभु ने कुछ हंस कर निपुणता से यह कहा ॥१८॥

अरी ! तुम मन्दमति हो। तुम बेचारी वास्तविकता को नहीं जानतीं अथवा कामान्ध व्यक्तियों को वास्तविकता का ज्ञान कहाँ हो सकता है ? ॥१९॥

जो परम तत्त्व को नहीं जानता, वही वैषयिक सुख की प्रशंसा करता है। जिसने पियाल का फल नहीं देखा, वही पकी निबोली को मीठा कहता है ॥२०॥

अथवा जिसने जो देखा है, वह उसी की सराहना करता है। इसीलिये ऊँटनी नीम को ही मीठा समझती है ॥२१॥

कहाँ सामान्य वस्तुओं से बना लड्डू और कहाँ घी का लड्डू ? यह विषयों का सुख कहाँ और चिदानन्द से उत्पन्न सुख कहाँ ? ॥२२॥

नाम और अक्षरों की समानता होने पर भी इन दोनों सुखों के स्वाद में, गाय और स्नुही के दूध की तरह निश्चय ही महान् अन्तर है ॥२३॥

कामज्वर से पीड़ित विवेकहीन व्यक्ति ही धर्म रूपी लाभकारी औषधि को छोड़कर नारी रूप औषध का सेवन करते हैं, जो आपाततः मधुर किन्तु अन्ततः कष्टदायक है ॥२४॥

जैसे जल से सागर को और इंधन से आग को, उसी प्रकार वैषयिक सुखों से आत्मा को कदापि तृप्त नहीं किया जा सकता ॥२५॥

ब्रह्मलोक में अनन्त तथा अक्षय सुख भोगती हुई यह प्रकाशस्वरूप शाश्वत आत्मा ही (नित्य) है ॥२६॥

तुम इसके बाद पुनः ऐसा मत कहना। गंवार लोगों के लिये उचित बात शिष्ट व्यक्ति को नहीं कही जानी चाहिए ॥२७॥

तुम सदा पास रहती हुई भी मेरे स्वभाव को नहीं जानतीं जैसे मेंढक साथ रह कर भी कमल की सुगन्ध को नहीं जान पाते ॥२८॥

प्रभु की बात सुनकर उन सब भाभियों ने पुनः सच्चे तथा सीधे शब्दों में यह कहा ॥२९॥

हे नरशिरोमणि ! जगत्पूज्य ! जिनेन्द्र श्री नेमिनाथ ! आपने जो कुछ कहा है, वही सत्य है ॥३०॥

और हे पूज्य ! हम जानती हैं कि ये विषय तुम्हारे मन को तुष के ढेर के समान रसहीन (निस्सार) प्रतीत होते हैं ॥३१॥

किन्तु पुत्रों को, विशेषकर विचार और आचार के ज्ञाता तुम्हारे जैसों को, अपने माता-पिता का सम्मान करना चाहिये ॥३२॥

पुत्र अपने कष्ट का विचार किये बिना माता-पिता को प्रसन्न करते हैं। माता-पिता को कन्धे पर ढोने वाला श्रवण कुमार इसका उदाहरण है ॥३३॥

और अच्छे पुत्र माता-पिता के सुख के लिये ही कार्य करते हैं। चाँद ( अपने पिता ) सागर की प्रसन्नता के लिए सदा आकाश में घूमता है ॥३४॥

संसार में निस्स्पृह महात्मा दया के वशीभूत होकर दूसरों पर अनुग्रह करने की इच्छा से ही कार्य करते हैं ॥३५॥

जैसे चन्द्रमा समूचे ससार को प्रसन्न करता हुआ भी कुमुदों को, आत्मीय समझ कर, अधिक आनन्दित करता है, हे विश्वेश ! उसी प्रकार जगत् को आह्लादित करने वाले तुम्हें भी अपने कुटुम्ब को विशेष रूप से प्रसन्न करना चाहिये ॥३६-३७॥

अथवा हम अधिक क्या कहें । आप स्वयं त्रिकालज्ञ हैं। भगवान् ही इहलोक और परलोक की स्थिति को जानते हैं ॥३८॥

इसी बीच शिवा ने पास आकर और प्रभु को बाँह से पकड़ कर कहा—कुमार ! मैं तुम्हारी आँखों पर बलि जाती हूँ ॥३९॥

पुत्र ! प्रसन्न हो और तुरन्त विवाह स्वीकार कर। हे नरश्रेष्ठ ! माता-पिता की इच्छाओं को अवश्य पूरा करना चाहिये ॥४०॥

तब जगत् के स्वामी ने, निस्स्पृह होते हुए भी, माता-पिता के आग्रह से उनकी बात मान ली क्योंकि उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता ॥४१॥

तब सारे यादव, विशेषतः शिवादेवी और समुद्रविजय, बन्धुओं समेत प्रसन्न हो उठे ॥४२॥

और इधर कमल के समान आँखों वाला राजा उग्रसेन था। वह भोजराज का पुत्र था और उसकी सेना उग्र थी ॥४३॥

वह पराक्रमी रणभूमि में शत्रुओं के प्रताप और यश को ऐसे ग्रस लेता था जैसे उच्च स्थान में स्थित राहु चन्द्रमा और सूर्य को ॥४४॥

प्रतिपक्षी राजा, हाथ में तलवार लेकर युद्ध के लिये तैयार उसे प्रसन्न करके, यह सूचित करने के लिये कि हम लड़ने से अनभिज्ञ हैं, उसे तलवारें भेंट करते थे ॥४५॥

प्रातःकाल सामन्तों के द्वारा भेंटकिये गये हाथी बहते मदजल से उसके सभामण्डप को गीला करते थे ॥४६॥

वह दीन जनों का सहारा, शरणार्थियों का रक्षक, गुण रूपी रत्नों का कोश और कीर्ति रूपी लताओं का उद्यान था ॥४७॥

वह लक्ष्मी और सरस्वती का खजाना, बल रूपी हाथियों का बन्धन-स्तम्भ, नीतिलताओं का आलवाल ( थौला ), और कुल रूपी घरों का खम्भा था ॥४८॥

उस राजा की खिले कमल के समान आँखों वाली पुत्री राजीमती इन्द्र की कन्या जयन्ती जैसी थी ॥४९॥

वह शील रूपी रत्न की मंजूषा, सौन्दर्यजल की बावड़ी, सौभाग्य रूपी कन्द की बेल और रूप-सम्पदा की सीमा थी ॥५०॥

वह चन्द्रकला के समान निर्मल, कमलनाल के समान कोमलांगी, मेघमाला की भाँति काम्य और हरिणी की तरह सुन्दर आँखों वाली थी ॥५१॥

उसके मुख से पराजित होकर चन्द्रमा लघुता ( छोटेपन, हल्केपन ) को प्राप्त हो गया है । वायु द्वारा रुई की तरह ऊपर उड़ाया गया वह आकाश में (मारा-मारा) फिरता है ॥५२॥

भोली-भाली तथा स्नेह पूर्ण पुतलियों वाले उसके नेत्र, जिसके बीच में भौंरा बैठा है ऐसे नीलकमल की शोभा को मात करते थे ॥५३॥

लावण्यरस से परिपूर्ण उसके कलश-तुल्य स्तन ऐसे प्रतीत होते थे मानो उसके वक्षस्थल को फोड़ कर काम के दो कन्द निकल आए हों ॥५४॥

उसकी कदली-स्तम्भ के समान कोमल जंघाएँ ऐसी लगती थीं मानों काम के पुद्धर्ष हाथी को बांधने के दो खम्भे हों ॥५५॥

मैं समझता हूँ कि उसके चरणों के सौन्दर्य की शोभा से पराजित कमल अब भी भय से कांपता हुआ वन में रहता है ॥५६॥

उसके रूप के सौन्दर्य से पराजित देवांगनाएँ लज्जित-सी होकर लोगों को अपना मुँह नहीं दिखातीं ॥५७॥

वह महिलाओ के उज्ज्वल तथा प्रशस्त गुणो से, जिनमें रूप, प्रेम, लज्जा तथा सुशीलता मुख्य थे, इस प्रकार व्याप्त थी जैसे चन्द्रकला किरणों से ॥५८॥

यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने अपने बन्धुओं के साथ उग्रसेन से उस सुकुमारी युवती को नेमिकुमार के लिये मांगा ॥५९॥

उग्रसेन ने भी, जिसकी आँखें प्रसन्नता से खिल उठी थीं, कहा कि हम तो इस बात के कथन मात्र से आनन्दित हो गये ॥६०॥

सत्पुरुषों का सम्बन्ध तो दूर, उसकी बात भी अतीव आनन्द देती है। चन्द्रमा तो दूर, चाँदनी ही चकोरों को प्रसन्न कर देती है ॥६१॥

हे माधव ! हम दोनों के सम्बन्ध के बीच यदि यह सम्बन्ध (भी) हो जाए, तो मैं मानूँगा कि खीर में खाण्ड मिल गयी है ॥६२॥

मैंकुमारी राजीमती कुमार अरिष्टनेमि को देता हूँ। रोहिणी और चन्द्रमा की भाँति इनका मिलन कल्याणकारी हो ॥६३॥

तब यह सुन्दर सम्बन्ध हो जाने पर दोनों ही सम्बन्धियों ने अपना कार्य आरम्भ किया जैसे जल और बीज अंकुर के लिये अपना काम करते हैं ॥६४॥

हर्ष रूपी जल के सागर भोजदेश के राजा उग्रसेन ने अपने मन्त्रियों को बार-बार आदेश दिया कि विवाह के लिये जो-जो वस्तुएँ चाहियें, आप उन सबको अभी तैयार करो ॥६५॥

## दशम सर्ग

तब सखी के मुख-रूपी चन्द्रमा से झरते इस समाचार-रूपी अमृतरस का पान करती हुई भोजराज की चकोरनयनी पुत्री (राजीमती) को, चकोरी की भाँति, तृप्ति नहीं मिली ॥१॥

उसने सखी से बार-बार पूछा कि 'क्या यह मज़ाक है अथवा तू सच बोल रही है।' यदि तू मेरे सामने सच्ची बात नहीं कहती तो तुझे माता-पिता की सौगन्ध ॥२॥

इधर मन्त्रियों ने समुद्रविजय, कृष्ण और बलराम को सूचित किया कि हे नरनायको! विवाह की समूची उत्तम सामग्री तैयार है ॥३॥

गंदी धूल को साफ़ करके नगर की सड़कों पर सुगन्धित जल का छिड़काव कर दिया है। उनके ऊपर रंग-बिरंगे चम्पक, जपा, चमेली आदि के फूल बिखेर दिये हैं। आकाश काफूर, अगुरु और धूप के धुँए से भर गया है। बन्दियों को छोड़ दिया गया है। वे नेमिप्रभु को आशीर्वाद दे रहे हैं ॥४॥

और मणिखचित सोने के मनोहर तोरण खड़े कर दिये हैं, कदली-स्तम्भों के कारण सुन्दर अत्युच्च मण्डप बना दिये गये हैं और उत्तम मोतियों, स्वर्णकन्दलों तथा हिलती मणियों से उज्ज्वल और विविध चित्रों से युक्त रमणीय चँदोए लगा दिये हैं ॥५॥

तब निकटवर्ती उद्यान में ऊँचे वृक्षों की ठण्डी छाया में बैठे हुए यात्री द्वारिका को देखकर मन में यह सोचने लगे कि क्या यह स्वर्गपुरी अथवा नागपुरी (पाताल या सोने की लंका अथवा अलका नगरी पृथ्वी पर आ गयी है ॥६॥

ये कुलीन, हितैषी, शृंगार की सारभूत, भोली-भाली तथा स्नेहमयी नारियाँ निरन्तर मंगल गा रही हैं। ये मस्त लड़के हंसी और कौतुकों में व्यस्त हैं। और ये सामन्त राजा उपहार लिये द्वार पर खड़े हैं ॥७॥

ये सुन्दर आँखों वाली गणिकाएं, जिन्होंने पावों में मधुर शब्द करने वाली पायजेबें पहन रखी हैं तथा जिनका खनकते घुंघरूओं से स्पष्ट पता चल रहा है, नृत्य में लीन हैं। ढोल, मर्दल, ताल, बाँसुरी, पणव आदि वाद्य बजाने वाले ये गन्धर्वों के गण, जिनका स्वर किन्नरों के समान मधुर है, (गाने के लिये) आए हैं ॥८॥

अद्‌भुत विन्यास वाली भूषा को पहन कर उत्कृष्ट शोभा से सम्पन्न और राग-रहित होते हुए भी अनुपम अंगराग (बटना) धारण करके जगत्प्रभु नेमिनाथ ने रथ पर सवार होकर विवाह के लिये प्रस्थान किया। उनके साथ चलते राजा ऐसे लगते थे जैसे इन्द्र के संग देवगण ! ॥९॥

यादवों के करोड़ों कुल आनन्दपूर्वक उनके पीछे ऐसे चले जैसे लक्ष्मी पुण्यशाली व्यक्ति का, सुशील स्त्रियाँ अपने पति का, स्पष्ट टीकाएं सूत्र के अर्थ का, तारागण चन्द्रमा का, बुद्धि मनुष्य के कर्म का और इन्द्रियों के कार्य हृदय का अनुगमन करते हैं। १०॥

सब अन्य कार्यों से हटकर जिनेश्वर को देखने को अतीव उत्सुक शहर की चपलनयनी नारियों की चेष्टाएं इस प्रकार हुईं ॥११॥

झरोखे की ओर तेजी से जाती हुई किसी स्त्री ने, जिसके पाँव ताजे लाक्षारस से रंगे थे, मणियों के फर्श पर अपने चरण-कमलों के चिन्हों से कमलों की भांति पैदा की ॥१२॥

कोई दूसरी, जिसके चरण-कमल नूपुरों से शब्दायमान थे, हाथों के गीले प्रसाधन के पुंछने के भय से, गिरे हुए उत्तरीय को वहीं छोड़कर झट खिड़की की तरफ दौड़ गयी ॥१३॥

प्रभु को देखने की इच्छा से सहसा उठी हुई किसी अन्य स्त्री ने, अध-गुंथे हार से गिरते हुए मोटे-मोटे मोतियों से भूमि को पग-पग पर अलंकृत कर दिया ॥१४॥

खिड़की में बैठी किसी स्त्री के चबाने के लिए तैयार किये गये चूर्ण-मिश्रित पान का आधा भाग उसके मुंह में रह गया और आधा हाथ में ॥१५॥

प्रभु के रूप को देखकर आनन्दातिरेक के कारण एकटक दृष्टि लगाए हुए किसी दूसरी ने, बहरी की भाँति, समीपस्थित सखी के शब्द को नहीं सुना, यद्यपि वह उसे बार-बार पुकार रही थी ॥१६॥

कोमल हाथों से पानी के घड़े को खींचती हुई और इसीलिए कन्धों तथा आँखो को ऊपर किये हुए कोई, खिंचे धनुष की तरह, खड़ी रही। ओह ! स्त्रियों में देखने की कितनी आतुरता होती है ॥१७॥

दूसरी, कमल-तुल्य एक आँख को आंज कर और दूसरी को आंजने के लिये सलाई पर काजल लेती-लेती जल्दी-जल्दी झरोखे की ओर भाग गयी ॥१८॥

किसी स्त्री ने सुवर्ण-गृह के झरोखे के अन्दर से, आकाश में (निकले) आनन्ददायक चन्द्रमा की तरह प्रभु को राजपथ पर आया देखकर, दोनों हाथ जोड़कर तथा सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया ॥१९॥

'सखि ! केवल एक क्षण प्रतीक्षा करो। मैं भी घर बन्द करके आ रही हूँ' ऐसा कहती हुई अपनी सखी की परवाह न करके कोई स्त्री आसन से उठकर भाग गयी ॥२०॥

कुछ स्त्रियों ने, घर की खिड़की में स्वेच्छा से एक दूसरे के साथ टकराने के कारण हारों से गिरे मोतियों और रत्नों के समूह को पुष्पराशि की तरह रास्तों में बिखेर दिया ॥२१॥

एक अन्य स्त्री विशाल थाल मे परसे गये उस भोजन को छोड़कर जो देवताओं को भी दुर्लभ है, द्वार की ओर चल पड़ी। सचमुच स्त्रियों की दृष्टि चंचल होती है ॥२२॥

कोई विशाल गाल पर कस्तूरी और कुंकुम से पत्रवल्ली की रचना करते हुए प्रसाधिका के हाथो को हटा कर अचानक गवाक्ष में भाग गयी ॥२३॥

तब खिड़की मे बैठी कामिनियो के मुखों को देख कर नीचे धरती पर खड़े लोगों को यह आशका हुई कि क्या आज आकाश में हजारों चाँद निकल आए हैं ? ॥२४॥

तत्पश्चात् प्रभु, जिनकी देवांगनाएं प्रशंसा कर रही थीं और मनुष्य एवं देवता सेवा कर रहे थे तथा जिनसे छत्र के द्वारा गर्मी दूर कर दी गयी थी, भोज के घर के पास पहुंचे ॥२५॥

उस समय सखियो ने राजीमती को कहा—सखि ! देख, देख। देवांगनाओं के लिये भी दुर्लभ यह तेरा वर नेमिनाथ तेरे भाग्य से खिच कर आया है ॥२६॥

ये यादव-नृपतियों की स्त्रियाँ आनन्द के कारण अपने कठोर तथा पुष्ट स्तनों से आपस में टकराती हुई गीत गा रही हैं। ये मंगलपाठक जयजयकार से कोलाहल कर रहे हैं। और समूची दिशाओं को बहरी करता हुआ यह वाद्यों का शब्द सुनाई पड़ रहा है ॥२७॥

तब जगत् के एकमात्र बन्धु नेमिप्रभु ने, बाड़े की कारा में पड़े, हिम-पीड़ितो के समान कांपते हुए तथा बन्दी डाकूओं की तरह त्रस्त आंखों वाले पशुओं को देखकर सूत को कहा ॥२८॥

हे वाक्पटु सारथि ! बता, इन बेचारों ने पूज्य पिता अथवा बलराम का, भोज अथवा कृष्ण का क्या अपराध किया है, जो इन्हें यहाँ ऐसे बन्द किया गया है ॥२९॥

दाहिनी ओर स्थित सूत ने उत्तर दिया कि इन्होंने किसी का भी अपराध नहीं किया है पर इनसे यादवों का ठाटदार भोजन बनेगा ॥३०॥

तब प्रभु ने कहा—हे सारथि ! सुनो। जो इसे भोजन का गौरव मानते हैं, उन्हें नरक में ही महत्त्व मिलता है, उन्हें स्वर्ग नहीं बुलाता अर्थात् उन्हें स्वर्ग का सुख नहीं मिलता ॥३१॥

और फिर विश्व के एक मात्र बन्धु ( नेमिनाथ ) की परम कृपा से उन सब पशुओं को शीघ्र ही बन्धन से मुक्ति मिल गयी। उन जैसों की महिमा अचिन्तनीय है ॥३२॥

तब सूत ने स्वामी की आज्ञा से रथ को . विवाहगृह से वापिस मोड़ लिया जैसे योगी ज्ञान की प्रबल शक्ति से अपने मन को बुरे विचार से तुरन्त हटा लेता है ॥३३॥

नेमि को वापिस जाते देखकर उनके सारे सम्बन्धी, घबराहट से यह कहते हुए कि 'यह क्या हो गया है' इस प्रकार उनके पीछे दौड़े जैसे डरे हुए हरिण यूथ के नेता के पीछे भागते हैं ॥३४॥

नेमिनाथ ने उन्हें अमृत और चन्दन के समान शीतल वाणी से इस प्रकार प्रबोध दिया जैसे रात्रि के समय चन्द्रमा अपनी किरणों से कुमुदवनों को विकसित करता है ॥३५॥

आप सुनें, धर्म और पाप निश्चय ही सुख और दुःख के प्रख्यात कारण हैं और उनके (धर्म और पाप के) कारण और करुणा हिंसा प्रसिद्ध हैं। ऐसा होने पर बुद्धिमान् को क्या करना चाहिए ? ॥३६॥

अतः सुख चाहने वाले व्यक्ति को सदा दया करनी चाहिये। वह सब प्राणियों की रक्षा से होती है। उसके ( जीवरक्षा के ) इच्छुक बुद्धिमान् को सब प्रकार की आसक्ति छोड़ देनी चाहिए ॥३७॥

उसी समय शरीर की देदीप्यमान कान्ति से समूची दिशाओं को प्रकाशित करते हुए लोकान्तिक देवों ने प्रभु से स्तुतिपूर्वक यह निवेदन किया ॥३८॥

सुरों और असुरों को झुकाने वाले आपको नमस्कार, काम को जीतने वाले आपको नमस्कार, विकसित मुखकमल वाले आपको नमस्कार समूचे जगत् के हितैषी आपको नमस्कार ॥३९॥

हे पूज्य ! आपकी यह आकृति ही स्पष्ट कह रही है कि आप समस्त दोषों से मुक्त हैं। सज्जन की बाह्य चेष्टाउसके स्वरूप को पहले ही व्यक्त कर देती है ॥४०॥

हे जिनेन्द्र ! दीपक की तरह एक देश को पकाशित करने में तत्पर तीर्थंकर घर-घर में हज़ारों हैं किन्तु सूर्य के समान संसार को द्योतित करने वाले केवल एक आप ही हैं ॥४१॥

हे परमार्थवंद्य ! आप कृपा करके तुरन्त निर्मल धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करें, जिसे पाकर भव्य जन अगाध भवसागर को जल्दी पार कर जाते हैं ॥४२॥

तब प्रभु ने पृथ्वी पर इच्छानुसार वार्षिक दान प्रारम्भ किया जैसे पुष्कर और आवर्तक वंश में उत्पन्न मेघ अपरिमित जल बरसाता है ॥४३॥

तत्पश्चात् नेमिनाथ भोजराज की स्नेहमयी एवं बुद्धिमती पुत्री ( राजीमती ), साम्राज्यलक्ष्मी तथा आत्मीय जनों को छोड़ कर और पूज्य माता-पिता से अनुमति लेकर दीक्षा ग्रहण करने को तैयार हो गये ॥४४॥

दीक्षा का समय जानकर इन्द्र ने, शची के पुष्ट स्तनों रूपी कमल-कोशों के भ्रमरअपनेहाथ में जिसने वज्र उठाया हुआ था, जिसके गाल चमकीले कुण्डलों की प्रभा से अतीव शोभित थे, तथा जो हिलती हुई पताकाओं से सूचित घुंघरुओं के शब्द से गुंजित विमान में सवार था, देवताओं के साथ आकर नेमिनाथ को नमस्कार किया ॥४५-४६॥

देवताओं और मनुष्यों ने पहले जिनेन्द्र को शुद्ध जल से स्नान कराके दिव्य लेपों का लेप किया, फिर उन्हें प्रमुख वस्त्रों तथा आभूषणों से विभूषित किया ॥४७॥

तब बढ़िया पन्ने के समान कान्ति वाले नेमिप्रभु, जिनका कण्ठ उज्ज्वल रत्नों की माला तथा मोतियों से अलंकृत था, इन्द्रधनुष से युक्त मेघ की तरह शोभित हुए ॥४८॥

इसके बाद देवों और असुरों के स्वामियों तथा प्रमुख यादवों ने जब उस महान् उत्सव को सम्पन्न कर दिया तो जिनेश्वर ने, राजाओं, नागेन्द्रों, सुरेन्द्रों तथा चन्द्रों द्वारा उठायी गयी, मणियों तथा मोतियों की मालाओं से मनोहर, स्वर्णनिर्मित विमान-तुल्य पवित्र पालकी में बैठ कर द्वारिका के राजपथ पर प्रस्थान किया ॥४९-५०॥

तब व्रत ग्रहण करने के इच्छुक जगदीश्वर उर्जयन्त पर्वत के आम्रवन में पहुंचे। हजारों शब्दों में उनका अभिनन्दन किया जा रहा था, हजारों नेत्र उन्हें देख रहे थे, हजारों सिर उनकी वन्दना कर रहे थे, हजारों हृदय उन्हें अपने में धारण कर रहे थे, नर, देव तथा दैत्य उनकी स्तुति कर रहे थे और देवांगनाएँ मंगलगान गा रही थीं ॥५१-५२॥

वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे पालकी रखवा कर नेमिनाथ उससे उतर गये। तब उस वीतराग ने समस्त वस्त्रों, भूषणों आदि को छोड़कर हजारों कुलीन पुरुषों के साथ दीक्षा ग्रहण की, जो सिद्धि रूपी स्त्री का आलिंगन प्राप्त कराने वाली चतुर दूती है ॥५३॥

---

## एकादश सर्ग

इसके पश्चात् प्रभु द्वारा छोड़ी गयी भोजराज की पुत्री बेचारी राजीमती, जिसका शरीर (दुःख से) शिथिल हो गया था, पृथ्वी पर गिर कर आँसू बहाती हुई विलाप करने लगी ॥१॥

हे विश्वबन्धु स्वामी ! मेरे प्रति तुम्हारा यह निष्ठुर व्यवहार क्यों ? पक्षी भी अपनी सहचरियों को छोड़ कर जीवित नहीं रहते ॥२॥

हे बुद्धिमान् ! आपने मुझे कभी प्रत्यक्ष देखने की भी कृपा नही की, तो मुझ अबला पर आपका इतना क्रोध क्यों ? ॥३॥

नाथ ! यदि तुम अपराध के बिना ही मुझे छोड़ कर, पहले अनेक पुरुषों द्वारा भोगी गयी दीक्षा-रूपी नारी का स्वीकार करते हो, यह तुम्हारे कुल के लिये उचित नहीं ॥४॥

यदि सत्पुरुष भी ऐसा (कुकर्म) करते है, तो यह बात किसे कही जाए (अर्थात् किससे शिकायत की जाए)। अथवा समुद्र को अपनी मर्यादा का उल्लंघन करने से कौन रोक सकता है ॥५॥

नाथ ! यदि आप सब प्राणियों पर दया करते हैं, तो क्या मैं प्राणी नहीं हूँ ?, जो आपने सज्जनों की करुणा की पात्र मुझ दीना को ऐसे छोड़ दिया है ॥६॥

प्यारे प्रभु ! आप ही कल्पवृक्ष की तरह संसार की इच्छाओं को पूरा करते हैं। मेरी आशा को आपने क्यों नष्ट कर दिया है ? ॥७॥

प्रभु ! मेरा मन चुरा कर वन में जाना आपके लिये शोभनीय नहीं है क्योंकि बुद्धिमान् परायी चीज़ लेकर गुफा में नहीं छिपते ॥८॥

विद्वान् जो यह कहते हैं कि "जो हृदय में अपने आराध्य का ध्यान करता है, वह अभीष्ट वस्तु अवश्य पाता है", क्या यह (कथन) मेरे लिये मिथ्या होगा ॥९॥

मैं सचमुच पहले भी राजिमती (दुःखों का घर) थी। मेरे और नेमि के बीच में आकर विधाता ने वही दुःख राशि मेरे ऊपर डाल दी है! भाग्य निश्चय ही दुर्बल पर मार करता है ॥१०॥

प्रभो! अथवा यह सब निश्चय ही मेरे कुकर्मों का फल है। बादल जो मरुथल को छोड़ देता है, वह मरु के दुर्भाग्य का दोष है ॥११॥

आत्मीय जनों ने, प्रगाढ़ शोक से विह्वल तथा पृथ्वी पर लोटती हुई और इस प्रकार करुण विलाप करती हुई उसे स्नेहपूर्ण गोद में बैठा कर, आँसूओं से लड़खड़ाते हुए कहा ॥१२॥

सयानी बेटी राजीमती! धीरज रख, शोक छोड़। भाग्य के विपरीत होने पर मनुष्य का क्या-क्या बुरा नहीं होता ॥१३॥

भाग्य ने किसको नहीं छला? किसे प्रियजन से वियोग नहीं मिला? संसार में कौन सदा सुखी रहता है? किसकी सारी इच्छायें पूरी हुई हैं? ॥१४॥

यदि मनुष्य को रोने से मनचाही वस्तु मिल जाए, तो लगातार व्यर्थ चिल्लाने वाले वाचाल को कभी दुःख ही न मिले! ॥१५॥

धरती पर अचानक गिरते हुए मेरु पर्वत को भले ही कभी रोक लिया जाए किन्तु प्राणियों के संचित कर्मों के शुभाशुभ फल को नहीं! ॥१६॥

हे विदुषी! प्राणी के ऊपर सम्पत्ति और विपत्ति दिन-रात की तरह अवश्य लौट कर आती हैं। इसलिये अब शोक मत कर। धर्म का पालन कर, जो सब मनोरथों को पूरा करने वाला है ॥१७॥

यह निश्चित है कि प्राणियों के समस्त मनोरथों की पूर्ति पुण्य से ही

होती है जैसे कदम्ब वृक्षों पर नयी कोंपलों और फूलों की बहार बादल के छिड़काव (वर्षा) से आती है ॥१८॥

स्वजनों द्वारा इस प्रकार समझाने पर वह विदुषी शोक को छोड़कर धर्माचरण में तत्पर हो गयी। विद्वानों को समझाना आसान है ॥१९॥

उधर राग और रोष से रहित, चन्द्रमा के समान सौम्य कान्ति वाले तथा सुमेरु की भाँति धैर्यशाली जिन परब्रह्म के चिन्तन में लीन हो गये ॥२०॥

करुणारस के सागर, परायी वस्तु को ग्रहण करने से विमुख, हित एवं सत्यवादी तथा शीलसम्पन्न मुनिराज मिट्टी और सोने को एक-समान मानने लगे ॥२१॥

प्रभु रूपी मस्त हाथी अत्यन्त कठोर तप रूपी सूण्ड के बल से गहन कर्म रूपी वृक्षावली को उखाड़ता हुआ पर्वतों, वनों आदि में आनन्दपूर्वक घूमने लगा ॥२२॥

वहाँ जिनेश्वर ने उपसर्ग, परीषह रूपी शत्रुओं की परवाह न करके अतीव दुस्सह तप करना आरम्भ किया। सचमुच तपस्या के बिना आत्मा की शुद्धि नहीं होती ॥२३॥

तदनन्तर चारित्र रूपी राजा के सैनिकों द्वारा अत्यन्त पीडित विषयों ने अपने स्वामी मोहराज के सामने उच्च स्वर में इस प्रकार पूत्कार किया ॥२४॥

हे स्वामी ! चरित्रराज के सैनिक जिनेश्वर नेमि के मन रूपी महानगर पर ज़बरदस्ती कब्ज़ा करके काम के साथ हमें भी सता रहे हैं ॥२५॥

उसके मद, मिथ्यात्व आदि प्रमुख सैनिकों ने इन्द्रियों के समूचे गण को अपने काबू में कर लिया है, रति का अनेक बार उपहास किया है और नगर के अधिष्ठाता देव की पूजा की है ॥२६॥

स्वामी ! संक्षेप में, शत्रुओं ने परम ध्यान के बल से रति और काम की सेना को इस प्रकार क्रूरता से मथ डाला है जैसे देवों ने मेरु पर्वत से क्षीरसागर का मन्थन किया था ॥२७॥

महाराज ! अब अपने शत्रु के विनाश के लिये शीघ्र प्रयत्न कीजिए। मजबूती से जड़जमे शत्रुओं और वृक्षों को बाद में उखाड़ना बहुत मुश्किल है ॥२८॥

जिसने बढ़ते हुए शत्रुओं और रोगों को पूर्णतः नष्ट नहीं किया, उसके ऊपर उनसे, कुछ ही दिनों में, निस्सन्देह घोर विपत्ति आती है ॥२९॥

संसार मे जो राजा शत्रुओं को न मारकर गर्व के कारण निश्चिन्त रहता है, वह मूर्ख आग में हवि डाल कर उसके पास सोता है ॥३०॥

विषयों के द्वारा यह निवेदन करने पर मोहराज ने मुस्करा कर कहा—ये हरिण (चरित्रराज के सैनिक तब तक आराम से घूमें जब तक यह शेर (मोह) सो रहा है ॥३१॥

मुझे नेमिनाथ रूपी नगर पर शासन करते हुए अनन्त समय बीत गया है। मेरे जीवित रहते पृथ्वी का कौन दूसरा वीर उस पर कब्जा कर सकता है ॥३२॥

तब मोहराज ने अपने तथा शत्रुओं के बल को जानने की इच्छा से संयमराज के पास कुमत नामक चतुर दूत भेजा ॥३३॥

उस वाक्पटु दूत ने चरित्रराज की सभा में प्रविष्ट होकर, शत्रुओं के हृदय-सागर में अभूतपूर्व हलचल पैदा करते हुए कहा ॥३४॥

संयमराज ! सम्राट् मोह मेरे द्वारा आपको यह सन्देश देते हैं कि नेमिनाथ के मन-रूपी मेरे नगर को छोड़ कर किसी दूसरी जगह चले जाओ ! तुम्हारा कल्याण हो ॥३५॥

संयमराज ! नेमि के हृदय को छोड़ते हुए तुम्हें तनिक भी लज्जा नहीं

होनी चाहिये क्योंकि पहले भी बलवानों के आग्रह पर बहुत-से राजाओं ने पृथ्वी छोड़ी है ॥३६॥

हे चरित्र ! अथवा मेरी दुर्धर्ष एवं प्रचण्ड सेना के दिखने पर पलायन नामक विद्या पहले ही तुम्हारे वश में है (अर्थात् मेरी सेना को देखते ही तुम भाग जाओगे) ॥३७॥

हे व्रतराज ! यदि अब तुम नेमि रूपी नगर को नहीं छोड़ोगे, तो निश्चित ही तुम नहीं बचोगे । मैं तुम्हारे चरित्र को जानता हूं ॥३८॥

संयमराज ! मैंने तुम्हारे सामने अन्ततः हितकारी बात स्पष्ट कह दी है । अब आपको जो भाए वह करो ॥३९॥

कुमत के इस प्रकार बेलगाम बोलने पर, चरित्राधीश की आँख का संकेत पाकर शुद्धविवेक नामक मन्त्री ने मुस्करा कर साफ-साफ कहा ॥४०॥

दूत ! तुमने यह सुन्दर कहा ! तुम वाग्मी हो, बुद्धिमान् हो ! संसार में आपके अतिरिक्त कौन दूसरा ऐसी बात कहना जानता है ॥४१॥

किन्तु हमने शत्रुओं को धराशायी करके अपने रहने के लिये इस हृदय-नगर पर बलपूर्वक अधिकार किया है । शत्रु मोह के डर से हम इसे कैसे छोड़ दें ॥४२॥

पहले भी संयमराज ने अनेक बार तुम्हारे स्वामी के दुर्गों पर जबरदस्ती कब्ज़ा किया था । अब वह उन्हें अपने सुन्दर नगर समझ कर उनका हर प्रकार से आनन्द ले रहा है ॥४३॥

यदि तुम्हारे स्वामी में शक्ति है, तो वह भी उन पर अधिकार कर ले । किन्तु वह धोखेबाज तेज जबान से (ही) लोगों को डराता है ॥४४॥

मित्र ! जो तुम्हारे इस धूर्त स्वामी के लक्षण को जानता है, वह उसे अनुयायियों सहित तत्काल आसानी से नष्ट कर देता है ॥४५॥

दूत ! आप अपने उस स्वामी को दुराग्रह से रोको अन्यथा वह निश्चय

ही संयम की शक्तिशाली सेना रूपी आग में शलभ बनेगा ॥४६॥

संयम के मन्त्री के ऐसा कहने पर शत्रु के दूत ने पुनः यह कहा—हे चरित्र ! मुझे लगताहै कि तू और तेरे सारे परिजन मूढ़ हैं ॥४७॥

मैंने जो हितकारी बात कही है, उससे तुम्हें क्रोध ही आया है। अतः यह निस्सन्देह सही है कि मूर्ख को भलाई का उपदेश नहीं देना चाहिये ॥४८॥

वह अग्रगण्य योद्धा राजा मोह कहाँ और कायरों के शिरोमणि आप कहाँ ? किन्तु मन्दान्ध व्यक्ति अपने और शत्रु के बलाबल का विचार नहीं करता ॥४९॥

मित्र ! तुम्हारे स्वामी के सैनिकों ने यदि मेरे सैंकड़ों ठिकाने आसानी से तोड़े हैं, तो पिता के घर में बैठे बच्चे की भाँति तुम्हारी इसमें क्या वीरता ?॥५०॥

मित्र ! क्या तुम भूल गये कि पूर्वजन्मों में मेरे स्वामी ने (आक्रमण के लिये) आये हुए आपको परास्त करके नेमिराज को अपने अधीन किया था ॥५१॥

अरे स्मरणाचार्य ! तुम्हें याद होगा कि मैंने पहले अपने स्वामी की कृपा से तुम्हें खदेड़ कर तुम्हारे सैनिकों को पीड़ित किया था ॥५२॥

मूर्ख संयम मेरे बलवान् स्वामी का अनादर करके विनाश को प्राप्त होगा। बन्दर द्वारा सिंह का अपमान निश्चित रूप से उसकी मृत्यु का कारण बनता है ॥५३॥

उसके ये अतीव कठोर वचन सुनकर संयम के क्रुद्ध हुए सैनिकों ने कुमत को कस कर गले से पकड़ कर बाहर निकाल दिया ॥५४॥

और उसने (कुमत ने) राजा मोह की सभा में जाकर शत्रुओं द्वारा किये गये अपने अपमान का विवरण देते हुए चरित्रनृपति की अपूर्व प्रबल सेना का वर्णन किया ॥५५॥

(यह सुनकर) क्रुद्ध हुए मोहराज ने युद्ध के लिये तैयार होकर अपने सैनिकों को बुलाया। सचमुच स्वाभिमानी बलवान् लोग शत्रु से तिरस्कार सहन नहीं करते ॥५६॥

इसके बाद स्वाभिमानी राजा मोह ने अपनी सारी मदमस्त सेना को इकट्ठा करके, संयम के साथ युद्ध करने के लिये प्रस्थान किया ॥५७॥

तब संयमभूपति के यह कहने पर कि मेरे सामने शत्रु के प्रमुख सैनिकों के नाम लो, मन्त्री सुबोध ने कहा—स्वामी ! सुनो। आपके शत्रु की सेना में कुमत नामक महाबली योद्धा है, जिसने विविध प्रकार की कपटपूर्ण चेष्टाओं से सारे जग को पीडित कर रखा है ॥५६॥

इसी के द्वारा भ्रष्ट किये गये कुछ लोग लिंग को शीश झुकाते हैं, कुछ ने अपने कुटुम्ब को छोड दिया है और कुछ शरीर पर भस्म रमाते हैं ॥६०॥

नर तथा नारी रूपी रथों मे बैठे हुए पांच विषय इसके अन्य महान् योद्धा हैं, जिन्होने आप की अवज्ञा करके समस्त लोगों को (अपने जाल से) आवृत कर रखा है ॥६१॥

शत्रु मोह का लालिमा, कम्पन तथा ताप लक्षणों वाला क्रोध नामक पुत्र पैदा हुआ है। वह आग की तरह मनुष्यो के गुण रूपी इन्धन को तुरन्त भस्म कर देता है ॥६२॥

इसी का दूसरा पुत्र अहंकार है, जो सदैव दूसरों की निन्दा करने में तत्पर रहता है। अपने गुणो से सदा उत्कर्ष को प्राप्त हुआ वह तीनों लोकों को तिनके के बराबर भी नहीं समझता ॥३३॥

आप मोह की मधुरभाषिणी तथा तीनों लोकों को छलने वाली पुत्री शठता को देखते हैं। आश्चर्य है, इसे मार कर भी मनुष्य को स्त्री-हत्या का पाप नहीं लगता ॥६४॥

जिसके जीवित रहने के कारण शत्रु मोह का कुल, यद्यपि तुमने उसे ध्वस्त कर दिया है, पुनः उत्पन्न हो जाता है; तीनों लोकों का अपकार करने वाले उसे तुम लोभ नामक योद्धा जानो ॥६५॥

प्रतिपक्षियों के बीच जो कुकथा नाम की एक चतुर्मुखी वीर योद्धी है, इसने सद्बोध, सदागम आदि तुम्हारे सैनिकों को बहुत पीड़ित किया है ॥६६॥

किन्तु हे स्वामी ! आज विपक्षी राजा का भाग्य प्रतिकूल है। अतः विजय तुम्हारे हाथ में ही है। इसमें सन्देह नहीं ॥६७॥

जब मन्त्री सुबोध यह कह रहा था, तब (सहसा) यह कोलाहल उठा। (सुनाईपड़ा)—हे योद्धाओ। शीघ्र तैयार हो जाओ, शत्रु की सेना आगयी है ॥६८

तब संयम के उद्यमी सैनिकों ने प्रसन्न होकर कवच पहना। मन भावी इष्ट और अनिष्ट को पहले कब जानता है ? ॥ ६९॥

तब शत्रु-सेना को सामने देखकर राजा मोह के यह कहने पर कि अब मेरी विजय होगी या नहीं, मन नामक ज्योतिषी ने कहा ॥७०॥

राजी ! भाग्य की गति रहस्यपूर्ण है। ब्रह्मा (भी) उसे ठीक-ठीक नहीं जानता। शकुन शुभ नहीं है। अत. तुम्हें विजय मिलनी कठिन है ॥७१॥

मोहराज ने मुस्करा कर कहा—हे मूढ़ नीच ज्योतिषी। तूने (ज्योतिष लगाने में) गलती की है। यदि मेरु भी समुद्र को पार कर जाए तो भी मेरी पराजय नहीं हो सकती (अर्थात् मेरु भले ही सागर के पार चला जाए किन्तु मैं कदापि पराजित नहीं हो सकता) ॥७२॥

तब क्रुद्ध होकर मोहराज, अहंकार के कारण शत्रुओं को तिनके के बराबर भी न समझता हुआ, राग आदि सेनानायकों के साथ तेजी से युद्ध के लिये उठा ॥७३॥

कषाय रूपी हाथियों को आगे किया गया, भय-हास्य आदि घोड़े

हाँके गये, महारथी विषय चल पड़े और अभिमान आदि सैनिक तैयार हो गये ॥७४॥

उस समय मथे हुए सागर के समान मोह की अतीव दुस्सह तथा प्रचण्ड सेना को देखकर चरित्रराज के वीर सैनिक कांपने लग गये ॥७५॥

तब तत्त्वविमर्श रूपी पराक्रमी मन्त्री ने सैनिकों को कहा—डरो मत, हौंसला रखो। धैर्यशाली ही शत्रुओं को जीतते हैं ॥७६॥

विकलांग होता हुआ भी राहु यम के पिता तेजःपति सूर्य को भी ग्रस लेता है। सफलता निश्चय ही पराक्रम के अधीन है ॥७७॥

जैसे शेर, अकेला भी, सैंकड़ों हाथियों को मार देता है, यदि मैं उसी तरह मोह के सारे सैनिकों को न मारूँ, तो मैं मर्द नहीं ॥७८॥

इसके बाद युद्ध की तुरहियों का शब्द होने पर तथा सैनिकों की हुंकारों से आकाश के गूँजने पर दोनों सेनाओं का आपस में भयंकर युद्ध हुआ ॥७९॥

उन दोनों सेनाओं में से कभी किसी की विजय होती और कभी किसी की पराजय। इसलिये जयलक्ष्मी उनके बीच में पक्षिणी की तरह जल्दी-जल्दी इधर-उधर घूम रही थी ॥८०॥

तब संयमराज के बलोद्धत तथा क्रुद्ध सैनिकों द्वारा ब्रह्मरन्ध्र को तोड़ने वाली मजबूत लाठियों से सिर फोड़ देने पर काम, बलहीन होकर, अपनी पत्नी-सहित (धरती पर) गिर पड़ा ॥८१॥

इसके बाद जयशील ध्यान रूपी योद्धा ने शुभलेश्या रूपी बहुत भारी गदा से राजा मोह के अनेक सैनिकों को पीस कर चूरा बना दिया ॥८२॥

तब यह निश्चय करके कि आज मेरा अथवा संयमराज का अन्त होगा स्वयं राजा मोह, अपने लोभ रूपी सैनिकों सहित, युद्ध करने के लिये उठा ॥८३॥

तब पराक्रमी संयमभूपति ने, तेजी से भागते हुए उस पर विशद अध्यवसाय रूपी मुद्गरों से प्रहार करके उसे चूर-चूर कर दिया ॥८४॥

तदनन्तर राजाओं तथा देवेन्द्रों द्वारा प्रशंसित चरित्रराज ने अपने सैनिकों के साथ नेमीश्वर रूपी राजधानी में फूल बरसाते हुए महान् उत्सव के साथ प्रवेश किया ॥८५॥

तब घातिकर्मों का क्षय होने से श्रीनेमिनाथ को अनुपम एवं निर्बाध केवल ज्ञान तथा दृष्टि प्राप्त हुए, जिनके प्रभाव से प्राणी समस्त लोक और अलोक को सदैव हस्तामलकवत् जानता और देखता है ॥८६॥

---

## द्वादश सर्ग

तब भगवान् चाँदी, सोने तथा मणियों के वृक्षों के मध्य स्थित, देवताओं द्वारा निर्मित सिंहासन पर बैठकर ऐसे शोभित हुए जैसे सुमेरु पर्वत के शिखर पर सटा हुआ नया काला बादल ।।१।।

तत्पश्चात् यह जानकर कि भगवान् को उत्तम केवल ज्ञान प्राप्त हो गया है, हर्ष के सागर यदुपति कृष्ण उनकी वन्दना करने के लिये नागरिकों के साथ तुरन्त चल पड़े ! बुद्धिमान् आदमी धार्मिक काम में देर नहीं करता ।।२।।

प्रेम से परिपूर्ण मन वाले नागरिकों ने, मार्ग में जाते हुए, नगर, उद्यान आदि देखने की इच्छुक अपनी प्रियतमा को, हाथ से संकेत करके यह वचन कहा ।।३।।

हे सुन्दरी ! नाना प्रकार के वृक्षों तथा गहन लताओं के कुंजों से युक्त, फलों से लदे हुए, खुशबूदार पुष्पों से मन को हरने वाले तथा अनेक पक्षियों द्वारा सेवित इस पवित्र बन को देख ।।४।।

प्रिये ! यह आम का वृक्ष मदमस्त भंवरियों एवं कोयलों के शब्द से तथा वायु से हिलते हुए पत्तों रूपी हाथों के संकेत से भी, फल चाहने वाले व्यक्ति को बुलाता हुआ-सा दिखाई देता है ।।५।।

हे विशालनयनी ! ऊपर मण्डराते भौंरों की मण्डली से अपनी सुगन्ध की महिमा को प्रकट करने वाले इस केवड़े के वृक्ष को देखो, जो हिलते पत्तों से मानों अन्य पेड़ों को साफ नीचा दिखा रहा है ।।६।।

प्रिये ! ये शीतल सरोवर दूसरों की भलाई के लिए सदा प्रचुर निर्मल जल धारण करते हुए भी मन्दबुद्धि (जडाशय-जलाशय) कहलाते हैं । सचमुच यश पुण्यों से मिलता है ।।७।।

हे विशालनयनी ! अपने फल के भार से झुके हुए पके धानों से युक्त वन को देखो, जिसकी किसान स्थान-स्थान पर तोते, मैना, कव्वे, कोयलों आदि पक्षियों से रखवाली कर रहे हैं ॥८॥

हे कमलाक्षी ! मेरा अनुमान है कि तालाब में सूर्य के प्रकाश से खिला हुआ यह कमल, जिसकी पंखुड़ियाँ हवा से हिल रही हैं, तुम्हारे मुख से डरा हुआ-सा कांप रहा है ॥९॥

प्रिये ! गुड़ और खाण्ड को पैदा करने वाले गन्ने का रस यद्यपि मधुर है तथापि यह तुम्हारे अधर से घटिया है क्योंकि अधिक सजावट से वस्तु का रस (सौन्दर्य) समाप्त हो जाता है ॥१०॥

हे मृगनयनी ! मधुर गीतों की ध्वनि के रस का आस्वादन करके ये हरिण, मानों पी गयी वायु से ठेले जाते हुए, हरिणियों के साथ वन में लम्बी-लम्बी चौकड़ियाँ भर रहे हैं ॥११॥

प्रिये ! संयमी जिन ने भोजराज की पतिव्रता पुत्री (राजीमती), अपने सम्बन्धियों तथा राज्य को भी तिनके की तरह छोड़कर जहाँ तप करते हुए विहार किया, यह वह उज्जयन्त पर्वत है ॥१२॥

हे मादक आँखों वाली ! देखो, पर्वत के वन में यह आम है, यह खदिर, यह सफेदा, ये एक-साथ उगे हुए टेसू और मौलसरी हैं, ये कुटज के दो पेड़ हैं, यह चीड़ है और यह चम्पक ॥१३॥

प्रिये ! सामने तुम जगत्प्रभु का चमकीला तथा निर्मल सभागृह देख रही हो। अपनी अतिशय भक्ति प्रकट करते हुए देवों और असुरों ने प्रसन्न हो कर इसे यहाँ बनाया है ॥१४॥

प्रिये ! ये देवांगनाएँ, जिन्होंने अपने शरीर की कान्ति से समस्त दिशाओं को प्रकाशित कर दिया हैं, जो पवित्र अलौकिक भूषण पहने हुए हैं तथा जिनके पैरों में नूपुर बंधे हैं, अपने प्रियतमों के साथ प्रभु की सभा में आ रही हैं ॥१५॥

मार्ग में अपनी प्रियाओं को नई-नई उत्तम वस्तुएँ दिखाते हुए ये नागरिक, परिजनों से शोभित कृष्ण के साथ, झट परमेश्वर की सभा में पहुंच गये ॥ १६॥

तब वहाँ समस्त पशुओं को विरोध से मुक्त देखकर चकित हुए आनन्दशील श्रीकृष्ण वाहन को छोड़कर अपने परिजनों के साथ सभा में प्रविष्ट हुए ॥१७॥

जिनेश्वर के प्रति अपूर्व भक्ति प्रदर्शित करते हुए देवताओं के द्वारा सभा के आंगन में घुटनों की ऊँचाई तक बरसाए गए नाना रंगों के फूलों की प्रशंसा करते हुए, देवताओं की दुन्दुभियों के ऊँचे तथा मधुर स्वर को प्रसन्नता से सुनते हुए, तीर्थंकर के नाम तथा कर्म से उत्पन्न जिनेन्द्र की उत्कृष्ट समृद्धि का बार-बार वर्णन करते हुए उन्होंने (श्रीकृष्ण ने) वहां प्रभु के सिर पर धारण किए गये चन्द्रमा के समान सुन्दर तीन छत्र देखे ! वे छत्र मणियों तथा मोतियों की राशि के समान चमकीले थे और जिनेश्वर के तीनों लोकों के आधिपत्य को सूचित कर रहे थे ॥१८-२०॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने हिलती हुई दो चंवरियों के मध्य बैठे जगत्प्रभु का मुख देखा, जो श्वेत राजहंसों के जोड़े के बीच खिले सुन्दर कमल के समान था ॥२१॥

प्रभु की अद्भुत रूप-सम्पदा को देखकर उस बुद्धिमान् को, तीनों लोकों के पवित्र पदार्थों को बार-बार मन में आदरपूर्वक याद करने पर भी (उसका) कोई उपमान नहीं मिला ॥२२॥

सूर्य के समान तेजस्वी, चन्द्रबिम्ब से भी अधिक सौम्य तथा नये मेघ के समान सुन्दर आकृति वाले ईश्वर को देखकर मुरारि मन में बहुत प्रसन्न हुए ॥२३॥

तब श्रीकृष्ण ने पहले विधिपूर्वक उनकी परिक्रमा की, फिर अपने जन्म और जीवन को सार्थक मानते हुए विनय और भक्ति से झुककर प्रभु के चरणकमलों में प्रणाम किया ॥२४॥

इसके बाद केशव ने हाथ जोड़कर भगवान् की स्तुति करना प्रारम्भ किया, जिनके चरण-कमल, प्रणाम करते हुए देवराज इन्द्र के मुकुट के अग्रभाग में लगे स्थूल रत्नों की रगड़ से चमकीले बन गये थे।२५॥

भगवन् ! आपके चन्द्रतुल्य मुख को देखने से मेरी आंखें आज पहली बार सार्थक हुई हैं, और हे अमरप्रभु। यह भवसागर मेरे लिये चुल्लू मात्र बन गया है ॥२६॥

भगवान् ! शान्त दृष्टि से अमृत की वर्षा-सी करते हुए, करुणा के सागर और ज्ञान के भण्डार आपको देखकर यह जनार्दन अत्यधिक आनन्द प्राप्त कर रहा है ॥२७॥

हे जिनेन्द्र ! लोग जो यह कहते हैं कि यह संसार आसानी से नारायण के उदर में समा जाता है, हे देव ! आपके दर्शन से उत्पन्न असीम हर्ष ने उसे मिथ्या बना दिया है ॥२८॥

हे प्रभु ! संसार कहता है कि तीर्थंकर की सभा में सब बैरी अपना बैर छोड़ देते हैं, किन्तु प्राणी आपके सामने ही आन्तरिक शत्रुओं को (क्रोध, लोभ, मोह आदि को) मार रहे हैं, यह महान् आश्चर्य है ॥२९॥

भगवान् ! आपके पीछे खड़ा नवीन कोंपलों से युक्त यह सरस चैत्य-वृक्ष ऐसा प्रतीत होता है मानों प्रभु के दान से पराजित कल्पवृक्ष, रूप बदल कर, यहाँ आपकी सेवा करने के लिये उद्यत हो ॥३०॥

नाथ ! पुष्ट स्तनों वाली देवांगनाएँ भी, जिन्होंने शरीर पर उज्ज्वल हार पहन रखे थे, जिनके मुख की कान्ति अत्यधिक दीप्त थी, अंगविक्षेप सुन्दर थे और जिनकी कान्ति नाचने से बढ़ गयी थी, तुम्हारे मन में विकार पैदा नहीं कर सकीं ॥३१॥

हे प्रभु ! भले ही सामान्यतः भी करोड़ देवता सदैव आपके पास रहें, किन्तु अनुपम सद्बुद्धि-सहित लक्ष्मी उसी को जन्मपर्यन्त प्राप्त होती, है जो आपकी सेवा करता है ॥३२॥

हे पुण्यशाली जिनेन्द्र ! रोग, दुर्दशा आदि तभी तक हैं, जब तक कोप की वृद्धि को खण्डित करने वाले, भक्तों के रक्षक और पुण्य तथा सुख के वर्धक आपके दर्शन नहीं होते ॥३३॥

हे दयालु ! पहले एक-साथ मेरे रोग और शत्रु मोह को नष्ट करो, उसके बाद मुझे यथार्थ ज्ञान-सहित असीम लक्ष्मी से युक्त वह (परम) पद प्रदान करो ॥३४॥

हे जिन ! उत्तम आभूषणों से शोभित, अनुपम भक्ति-रस में लीन कोकिलाओं के समान मधुरभाषिणी अप्सराओं ने, देवताओं के साथ कुल-पर्वतों पर बैठकर इस प्रकार आपकी कीर्ति का गान किया जैसे मुनि परम अक्षर का जाप करता है ॥३५॥

परम सुन्दर जिनराज ! जो मनुष्य आपकी स्तुति करता है, वह संसार में लक्ष्मी की निधि बन कर अतीव शोभा पाता है और सरस्वती उसे मनोहर प्रतिभा से अत्युत्तम बना देती है ॥३६॥

मुक्तावस्था को प्राप्त नेमिजिन इस अपरिमित लक्ष्मी और सत्यता का बार-बार विस्तार करें। इसके पश्चात् यम को पीड़ित करने वाले वे पूज्य दरिद्रता को पूर्णतया दूर करें ॥३७॥

हे समृद्धि के दाता ! हे पूज्यतम ! पहले आप मेरे विस्तृत दम्भ का नाश करो, फिर हे पूज्य ! मनुजेश ! परमज्ञानी ! हे संयमी ! मेरी रक्षा करो ॥३८॥

हे जगद्गुरु ! रागरहित आपने संसार में आकर उसकी रक्षा करते हुए, मोतियों की माला से शोभित सुन्दर पत्नी राजीमती को छोड़ दिया, यह दुःख की बात है। वह मनोहर विलासों, क्रीडाओं तथा केलियों के लिये आग है, लोक और अलोक में निष्कलंक है और उसकी अलकें कोकिलाओं और भ्रमरों के समूह के समान हैं ॥४०॥

गम्भीर रोगों को दूर करने वाले, संसार में शत्रु-रूपी पर्वत के लिये

इन्द्र, शरीर से सुन्दर, यथार्थ ज्ञान रूपी कमल के लिये तेजस्वी सूर्य, सुखमय एवं श्रेयस्कर जिन की पूजा करो ।।४१।।

हम कपटराशि-रूपी वृक्षों को उखाड़ने वाले पवन, कलहों को दूर करने वाले, आनन्द-रूपी तारों के चन्द्रमा, मगल तथा सुख के दाता, इस महान् जिन की पूजा करते हैं ।।४२।।

तब भक्ति और प्रेम के वशीभूत हृदय से इस प्रकार स्तुति करके श्रीकृष्ण के हट जाने पर जिनेन्द्र नेमिनाथ ने समस्त संशयों को दूर करने वाली अमृत-तुल्य धर्मदेशना प्रारम्भ की ।।४३।।

जैसे सूर्य के बिना दिन नहीं होता वैसे ही पुण्य के बिना सुख नहीं मिलता। इसलिये सुख चाहने वाले बुद्धिमान् को सदैव आदरपूर्वक पुण्य अवश्य करना चाहिये ।।४४।।

पुण्य से लक्ष्मी सदैव वश में रहती है, पुण्य से पृथ्वी पर यश फैलता हैं, पुण्य से सभी कार्य सिद्ध होते हैं, पुण्य से निश्चय ही परम पद प्राप्त होता है ।।४५।।

संसार में लोगों को व्याधि, विपत्ति, प्रियजन से वियोग, दरिद्रता धन का नाश, शत्रु से पराजय, दूसरे के घर में चाकरी, मानसिक व्यथाएँ सदा पाप के उदय से होती हैं ।।४६।।

सम्बन्धी और मित्र नष्ट हो जाते हैं, शरीर और धन भी नष्ट हो जाता हैं, केवल इहलोक और परलोक में संचित पुण्य नष्ट नही होता ।।४७।।

नेमिनाथ की इस धर्मदेशना को सुनकर भवसागर के पार जाने के इच्छुक कुछ लोगों ने दीक्षा ग्रहण की और कुछ ने प्रसन्न होकर श्रावक धर्म स्वीकार किया ।।४८।।

तब उग्रसेन की पुत्री राजीमती ने उठकर और जिनेश्वर को प्रणाम करके यह कहा—हे जगत्प्रभु ! प्रसन्न होओ, मुझे करने योग्य काम बताओ और मुझे सदा के लिये अपनी सहचरी बनाओ ।।४९।।

तदनन्तर दया से पसीजे हुए हृदय वाले जिनेन्द्र ने उसे चरित्र के रथ पर बैठाकर मोक्ष रूपी उस निर्मल नगर में भेज दिया, जहाँ स्वयं उन्हें भी जाना अभीष्ट था ॥५०॥

प्रभु भी असंख्य भव्य जनों को भवसागर से पार लगा कर और देवों द्वारा सेवित तीर्थंकर की समृद्धि को भोग कर, समस्त कर्मों के क्षीण होने पर, मानों अपनी पहले की प्रिया को मिलने की इच्छा से तुरन्त परम पद को चले गये ॥५१॥

वहाँ तीनों लोकों के स्वामी नेमिप्रभु ने, शरीर आदि से मुक्त होकर, वह अनश्वर, अतुल तथा शाश्वत आनन्दरूप सुख भोगा, जिसकी तुलना करने में मनुष्यों तथा देवताओं का राशिभूत सारा सुख भी समर्थ नहीं ॥५२॥

श्वेताम्बर कीर्त्तिराज ने काव्य-प्रणयन के अभ्यास के लिये इस काव्य की रचना की है, जो श्री नेमि जिनेश्वर के चरित्र से पवित्र है ॥५३॥

## नेमिनाथमहाकाव्यम्

### सुभाषितनीवी

१. शिक्षितो हि शुको वल्पेदपि तिर्यङ् नृभाषया । १.८.
२. सम्प्राप्तप्रसराभिस्तु को वा स्त्रीभिर्न खण्डितः । १.१५.
३. केवलोऽपि बली सिंहः किं पुनर्व्यूढकंकटः । १.४८.
४. अभ्यागतेषु प्रतिपत्तिवेदिनो खल्वौचितीं न स्खलयन्ति कुत्रचित् । २.३१.
५. परश्रियं द्रष्टुमशक्नुवत्तमा भवन्त्यजस्रं लघवो ह्यवाङ्मुखाः । २.४०.
६. ही प्रेम तद्यद्वशवर्तिचित्तः प्रत्येति दुःखं सुखरूपमेव । २.४३.
७. मन्तो हि शत्रुष्वपि पथ्यकारिणः । २.४४.
८. मनोहरः केवल इन्द्रनीलः पुनः सुवर्णोपरि संनिवेशी । ३.४.
९. विचार्य वाचं हि वदन्ति धीराः । ३.१८.
१०. इष्टं यदिष्टाय निवेदनीयम् । ३.२९.
११. कुत्रापि किं निर्मलपुण्यभाजां सम्पद्यते नात्र समीहितोऽर्थः । ३.३४.
१२. महात्मनां जन्म जगत्पवित्रं केषां प्रमोदाय न जायतीति । ३.३८.
१३. किं स्युः सुमेरुखण्डेषु सर्वे वृक्षाः सुरद्रुमाः ? ४.१४.
१४. विपद्यप्युपकुर्वन्ति पूतात्मानो हि निश्चितम् । ४.२१.
१५. नूनं सुमनसां लोके परार्थैकफला गुणाः । ४.२६.
१६. पुण्याधिकानाममरा हि भृत्याः । ४.४३.
१७. निश्चितं हि परमर्द्धिहेतवे जायतेऽधिकगुणस्य संगमः । ४.४६.
१८. छिद्रेषु नूनं प्रहरन्ति वैरिणः । ५.२.
१९. समागते हि व्यसने विवेकी धैर्यावलम्बं विरलः करोति । ५.५.
२०. निन्दन् स्वपापं गुरुपादमूले मुक्तो भवेत्तेन यतः शरीरी । ५.१५.
२१. क्वचा स्थितिर्वा क्व भवेज्जडानाम् । ६.११.

२२. गुणोत्तमानां विहिता हि सेवा फलं जडेभ्योऽपि ददाति सद्यः । ६.१४.
२३. आहन्यमाना अपि किं गभीराः कदापि कुत्रापि खरं रसन्ति । ६.१६.
२४. स्थानं पवित्राः क्व न वा लभन्ते । ६.१९.
२५. अग्रेऽपि हंसः कमनीयमूर्तिर्हेमाम्बुजातैः किमुतात्तसंगः । ६.२०.
२६. किं प्रेरितो देव ! शिशुर्जनन्या गिरा स्खलन्त्यापि न वक्ति नाम ।६.२७.
२७. तुल्या हि तुल्येषु रतिं लभन्ते । ६.३३.
२८. हृष्यन्ति सिद्धे हि न के स्वकार्ये । ६ ६१.
२९. वचसा भूभुजां सिद्धिः । ७.११.
३०. परिचिते ननु सत्यपि सुन्दरे किल जनोऽभिनवे रमतेऽखिलः । ८.३.
३१. सुजनता जनतापहृतौ क्षमा । ८.१०.
३२. अयुक्त-युक्त कृत्य-संविचारणां विदन्ति किं कदा मदान्धबुद्धयः । ८.४४.
३३. गतवतीषु जने बलपुष्टिदे भवति कस्य न दर्पधनच्युति. । ८.४५.
३४. काले रिपुमप्याश्रयेत्सुधीः । ८.४९.
३५. गतिर्विधातुर्विषमेति शंके । ८.५१.
३६. सकलोऽप्युदितं श्रयतीह जनः । ८.५३.
३७. मृगपतिर्निवसन् विपिनान्तरेऽपि सरसानि फलानि कदात्ति किम् । ८.६२.
३८. भवति तावदिभस्य करो दृढं स्पृशति यावदमुं न मृगाधिपः । ८.६२.
३९. संसारे सारभूतो यः किलायं प्रमदाजनः । ९.१५.
४०. कुत्र तत्त्वावबोधो वा रागान्धानां शरीरिणाम् । ९.१९.
४१. पक्वं निम्बफलं वक्त्रयदृष्टप्रियालुकः ।९.२०.
४२. अवाच्यं शिष्टलोकस्य ग्रामीणजनतोचितम् । ९.२७.
४३. अविभाव्यात्मनः कष्टं पितॄन् प्रीणन्ति नन्दनाः । ९.३३.
४४. सदा सिन्धोः प्रमोदाय चन्द्रो व्योमावगाहते । ९.३४.
४५. दूरे चन्द्रश्चकोराणां ज्योत्स्नैव कुरुते मुदम् । ९.६१.
४६. स्त्रीणामहो दर्शनलोलुपत्वम् । १०.१७.
४७. चक्षुर्विलोलं खलु कामिनीनाम् । १०.२२.

४८. स्वरूपमावेदयतीह पूर्वं बाह्यं व चेष्टा किल सज्जनस्य । १०.४०.
४९. विरहय्य निजाः स्वधर्मिणीर्नहि तिष्ठन्ति विहंगमा अपि । ११.२.
५०. अथवा सरितां पतिर्निजां स्थितिमुल्लङ्घन्निह केन वार्यते । ११.५.
५१. परिगृह्य परस्य वस्तु यन्नहि धीराः प्रविशन्ति गह्वरे । ११.८.
५२. नियतं दुर्बलघातको विधिः । ११.१०.
५३. विजहाति मरुं यदम्बुदः स हि दोषो मरुदुर्भगत्वजः । ११.११.
५४. किं किं न भवेच्छरीरिणां प्रतिकूले हि विधौ शुभेतरत् ? ।११.१३.
५५. फलित कस्य समस्तमीहितम् । ११.१४.
५६. सुखबोध्यो हि विशारदो जन. । ११.१९.
५७. शुद्धिर्न तपो विनात्मनः । ११ २३.
५८ रिपवस्तरवश्च दुर्द्धरा ननु पश्चाद् दृढबद्धमूलकाः । ११.२८.
५९ अनिहत्य रिपून् स्वगर्वतो गतचिन्तो निवसेन्नृपोऽत्र यः ।
सविषे स्वपितीह मूढधीः स परिक्षिप्य हुविर्हुताशने ॥ ११.३०.
६०. नहि कार्या हितदेशना जडे । ११.४८.
६१. प्लवगस्य पराभवो ध्रुव मृगनाथे मरणैकहेतवे । ११.५३.
६२. बलिनो खलु मानशालिनो विषहन्ते न रिपोः पराभवम् । ११ ५६.
६३. प्रथम बहुशः प्रबुध्यते मन आगामि शुभाशुभ कदा ?। ११.६९.
६४. गहनं ननु दैवचेष्टितम् । ११.७१.
६५. ननु धीरैः क्रियते द्विषज्जयः । ११.७६.
६६. नियतं सत्त्ववशा हि सिद्धयः । ११.९७.
६७. न हि धर्मकर्मणि सुधीर्विलम्बते । १२.२.
६८. सुकृतैर्यशो नियतमाप्यते । १२.७.
६९. अतिभूषणाद् भवति नीरसो यतः । १२.१०.
७०. सुकृतं सदैव करणीयमादरात् । १२.४४.

—

# पद्यानुक्रमणिका

————

२२
२७
५६

## श्री अभय जैन ग्रंथमाला के प्राप्य प्रकाशन

१. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह १०.००
२. ज्ञानसार ग्रन्थावली ५.००
३ जीवदया प्रकरण काव्यत्रयी १.७५
४. जैन दार्शनिक संस्कृति १.७५
५. पचभावनासज्झाय सार्थ १.७५
६. राजा श्रीपाल मैनासुन्दरी १.००
७ बीकानेर के दर्शनीय जैन मन्दिर ०.५०
८. समय सुन्दर कृति-कुसुमांजलि १०.००
९. रत्न परीक्षा ५.००
१०. सीताराम चरित्र १.५०
११. अष्टप्रवचन माता सज्झाय-सार्थ १.५०
१२. मणिधारी जिनचन्द्रसूरि १.००
१३. श्री देवचन्द्र स्तवनावली १.००
१४. शासन प्रभावक श्रीजिन-प्रभसूरि ५.००

## अन्य प्रकाशन

मन्त्रराज गुण कल्प महोदधि ३.५०
इकैवाला ४.००
अन्नपूर्णाभूमि ३.००
राजस्थानी कहावता भाग १—२ १०.००
विकास की ओर ०.६२
ऐतिहासिक काव्य संग्रह ३.००
दादा वाड़ी दिग्दर्शन ३.००
खरतरगच्छ प्रतिक्रमण १.००
जिनचन्द्रसूरिजी की महान सेवा ०.३०
स्नात्र पूजा सार्थ ०.७५
खरतरगच्छ साहित्य सूची ५.००
राजस्थानी साहित्य की गौरव पूर्ण परम्परा ७.५०
आनन्द सुधा ४.००
[illegible] बादी का झगड़ा २.००
[illegible]क्षा सागर २.००
आनन्दघन ग्रंथावली १०.००
अनोखी आन २.५०
मबडका ३.००
प्रकृति से वर्षाज्ञान भाग १—२, ६-६ १२.००
राजस्थानी निबन्ध माला भाग १—२, ३-३ = ६.००
जैन कोकिला ३.५०
खरतरगच्छ का इतिहास ५.००
दादागुरु चरित्र सचित्र २.००
उदारता अपनाइये ०.३०
जैसलमेर एक दृष्टि मे ०.३५
मणिधारी अष्टमशताब्दी ग्रन्थ २०.००
खरतर गच्छ प्रतिबोधित गोत्र १.००
छिताई चरित्र ७.५०
युग प्रधान जिनचन्द्रसूरि गुज ३.००
राजस्थानी साहित्य संग्रह ३.००
रुक्मणी मङ्गल २.००
नेमिनाथ महाकाव्य १०.००

प्राप्ति स्थान— १, अगरचन्द नाहटा।
बीकानेर (राजस्थान)